शोधादर्श

६३

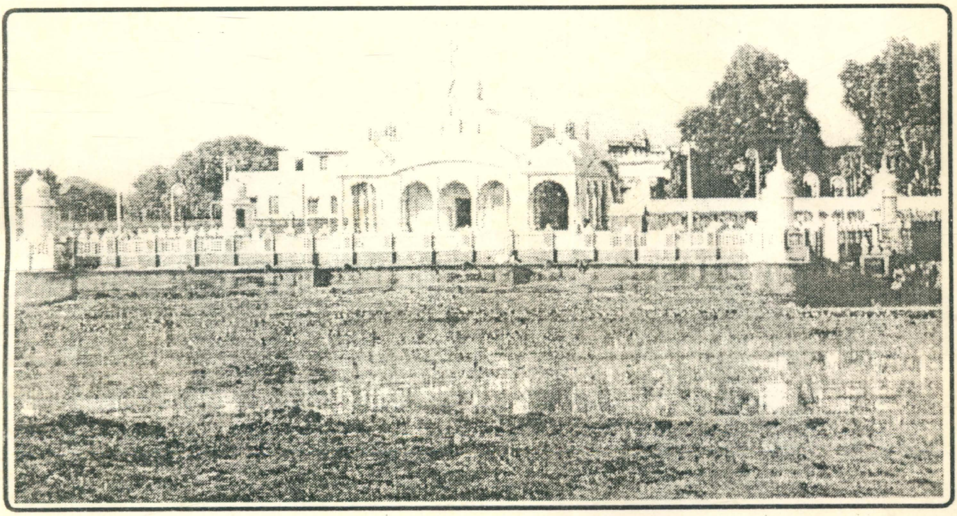

जल मन्दिर, पावापुरी (नालन्दा) बिहार

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

वर्धमान महावीर स्वामी

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी

निर्वाण हुआ जब वीर प्रभु का, श्रद्धा-सुमन उन्हें चढ़ाने
दीपों की अवलि से किया आलोकित जग नर-नारियों ने
मुक्ति-रमा वरी वर्धमान ने, गौतम गणेश पाये ज्ञान-लक्ष्मी।
यह दृश्य देख जन-जन का मन लगा यहाँ हर्षाने।।

आद्य सम्पादक : (स्व.) डॉ. ज्योति प्रसाद जैन
पूर्व प्रधान सम्पादक : (स्व.) श्री अजित प्रसाद जैन
सलाहकार : डॉ. शशि कान्त
सम्पादक : श्री रमा कान्त जैन
सह–सम्पादक : श्री नलिन कान्त जैन
श्री सन्दीप कान्त जैन
श्री अंशु जैन 'अमर'

प्रकाशक :
तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र.
ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ- २२६ ००४

णाणं णरस्स सारं- सच्चं लोयम्मि सारभूयं

शोधादर्श -६३

वीर निर्वाण संवत् २५३४ नवम्बर २००७ ई.

विषय क्रम

१. गुरुगुण कीर्तन : डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये	श्री रमा कान्त जैन	१
२. सम्पादकीय : संगठन का उपाय	श्री रमा कान्त जैन	७
३. अकलंकदेव और हरिभद्र का पूर्वापर	डॉ. ज्योति प्रसाद जैन	६
४. वीरचंद्र राघवजी गांधी	श्री रमा कान्त जैन	१२
५. जैन धर्म की सार्वभौमिकता	श्री अजित प्रसाद जैन	१३
६. भगवान महावीर की प्रथम सहस्राब्दी	डॉ. शशि कान्त	१७
७. सामयिक परिदृश्यः त्यागीवृन्द को अभिवन्दन	श्री रमा कान्त जैन	२७
८. 'मेरी भावना' लोकप्रिय क्यों ?	जस्टिस एम. एल. जैन	२८
६. परम कल्याणकारी ध्यान तेरस	डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल	३३
१०. आदिपुराण में नारी	डॉ. जैनमती जैन	३४
११. जैन और वैदिक परंपरा में वनस्पति विचार	डॉ. कौमुदी बलदोटा	४१
१२. बड़ी भयंकर भूल है	डॉ. गणेशदत्त सारस्वत	५३
१३. नैतिकता की चादर	श्री अशोक सहजानन्द	५४
१४. जीव दया और मीट टेक्नोलॉजी	डॉ. शशि कान्त	५६
१५. आदि भगवान	डॉ. इंदरराज बैद	६१

१६. The Jain Holy Places in Uttar Pradesh :	डॉ. सतीश चन्द्र अवस्थी	६२
१७. जीव हिंसा	श्री अनंत महादेवन	६६
१८. बने भगीरथ महावीर प्रभु	डॉ. महावीर प्रसाद जैन	६७
१६. नीम का पेड़	डॉ. कपूरचंद जैन	६८
२०. पारदर्शी- कुण्डली	ऊँ पारदर्शी	६८
२१. आध्यात्मिक गीत	महेन्द्र सागर प्रचंडिया	६६
२२. 'तुम से लागी लगन' के प्रणेता	श्री रमा कान्त जैन	७०
२३. मुक्तक	डॉ. परमानन्द जड़िया	७१
२४. साहित्य-सत्कार :		
सत्यनिष्ठ विचारयोगी	डॉ. शशि कान्त	७२
आदि तीर्थंकर ऋषभदेव; कवि बनारसीदास की आत्मकथा; Meru Temples of Angkor; - Madan Parajaya; तथा विविध साहित्य	श्री रमा कान्त जैन	७३
२५. समाचार विमर्श :	श्री रमा कान्त जैन	
(१) अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी के देश में हिंसा का बढ़ता ग्राफ		७७
(२) डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा की मनोव्यथा		७८
२६. समाचार विविधा :		७६
बावनगजा में पंचकल्याणक और महामस्तकाभिषेक; श्रवणबेलगोल गोम्मटेश बाहुबली की मूर्ति भारत की प्रथम अजूबा; अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस; राज्यपाल ने गुजरात धर्म स्वातंत्र्य (संशोधन) विधेयक २००६ लौटाया; 'जैन साहित्य और इतिहास' का पुनः प्रकाशन		
२७. अभिनन्दन		८१
२८. श्री नरेश चन्द्र जैन का अमृत महोत्सव		८४
२६. श्री शान्तीलाल जैन बैनाड़ा		८५
३०. शोक संवेदन्		८६
३१. आभार		८७
३२. पाठकों के पत्र		८८

गुरुगुण-कीर्तन

डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

लेखनी-वाणी में पटु, गहन ज्ञान भण्डार।
अनेक कृतियों के रहे, आदिनाथ करतार।।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, प्राच्य भाषा और संस्कृति के उद्‌घाटक, विभिन्न भारतीय और विदेशी भाषाओं के मर्मज्ञ विद्वान, जैन दर्शन और आध्यात्म विषयक ग्रन्थों के संशोधक एवं कुशल समीक्षक, जैन साहित्य में शोध करने वाले अनुसंधाताओं के सतत प्रेरणास्रोत डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये बीसवीं शती के विद्वज्जगत की विभूति थे। सन् १९६६ ई. में नागपुर में पालि और प्राकृत के अध्ययन हेतु हुई बोर्ड की बैठक में डॉ. उपाध्ये से डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन की प्रथम बार भेंट हुई थी। उस प्रथम भेंट में उनके व्यक्तित्व का जो चित्र और छाप उनके मन-मस्तिष्क पर अंकित हुए उसका उल्लेख उनके शब्दों में इस प्रकार है-

"श्याम वर्ण, सफेद पगड़ी, सफेद धोती और लम्बे काले कोट से मण्डित शारीरिक गठन उनके अमिट चिह्न थे । इस वेश-भूषा में वे यद्यपि एक दक्षिणात्य व्यापारी जैसे प्रतीत होते थे, पर बात करते ही यह भ्रम समाप्त हो जाता था और सामने आ जाती थी उनकी गम्भीरता, गुरुता और विद्वत्ता। सहजता और सरलता में पला-पुसा उनका व्यक्तित्व आत्मकेन्द्रित सा अवश्य लगता था पर वह वस्तुतः उनकी ज्ञान-महिमा का ही प्रतीक माना जाना चाहिये।"

आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये का जन्म ६ फरवरी, १९०६ ई. को कर्णाटक में बेलगांव जिले के सदलगा ग्राम में एक कृषक उपाध्ये जैन परिवार में हुआ था। उनके पिताजी का नाम श्री नेमन्ना भोमन्ना था। उनकी शिक्षा का श्रीगणेश सदलगा ग्राम में हुआ था। तदनन्तर क्रमशः बेलगांव, कोल्हापुर और सांगली में अध्ययन कर मुम्बई विश्वविद्यालय से सन् १९२८ ई. में बी.ए. की परीक्षा आनर्स के साथ तथा सन् १९३० ई. में अर्द्ध मागधी प्राकृत और संस्कृत विषय में एम.ए. परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। अर्द्ध मागधी प्राकृत विषय का चयन करने में उनके गुरु, तत्समय के प्राकृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. पी. एल. वैद्य, की प्रेरणा रही। कुन्दकुन्दाचार्य की कृति **प्रवचनसार** के सम्पादन, अंग्रेजी अनुवाद और कृति एवं कृतिकार के विषय में ६ अध्यायों में विशद विवेचनात्मक प्रस्तावना हेतु सन् १९३९ ई. में मुम्बई विश्वविद्यालय ने उन्हें डी. लिट्. की उपाधि प्रदान की।

सन् १६३३ ई. में वह कोल्हापुर के राजाराम कालेज में अर्द्ध मागधी प्राकृत और संस्कृत के लेक्चरर नियुक्त हुए और वहीं प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के पद पर कार्यरत रहते हुए सन् १६६२ ई. में सेवानिवृत्त हुए। तदनन्तर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अंतर्गत प्रोफेसर एमेरिटस के रूप में प्राकृत भाषा साहित्य और जैन विद्या के क्षेत्र में शोध कार्यों को प्रगतिमान किया। इस अवधि में वह कोल्हापुर के शिवाजी विश्वविद्यालय से अध्यापन हेतु जुड़े। कुछ समय तक वहां वाइस चान्सलर भी रहे और छात्रों में लुप्तप्राय प्राचीन भाषा प्राकृत को लोकप्रिय बनाने में प्रभूत योगदान किया। सन् १६७१ से १६७५ ई. तक डॉ. उपाध्ये मैसूर विश्वविद्यालय के जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग में प्रोफेसर रहे। 'ज्ञानमेव अमृतम्' उनका अध्यापन मंत्र था।

कन्नड तो उनकी मातृभाषा थी, किन्तु अध्यवसाय से उन्होंने प्राच्य भाषाएं-संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश; आधुनिक भारतीय भाषाएं-हिन्दी, मराठी और गुजराती; तथा विदेशी भाषाएं-इंगलिश, जर्मन और फ्रेन्च भी सीखीं और उनमें प्रवीणता प्राप्त की। कन्नड और इंगलिश में उनकी लेखनी को असाधारण अधिकार प्राप्त था।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और कन्नड साहित्य; भारतीय साहित्य के इतिहास; जैन धर्म और भारतीय दर्शन के अनुसंधित्सु छात्र एवं अध्यापक डॉ. उपाध्ये स्वभाव से सरल एवं कार्य से सबके प्रेरणास्रोत रहे।

दुर्लभ प्राचीन ग्रन्थों का पण्डिताउ शैली में सम्यक् अध्ययन कर उनका पाश्चात्य विद्वानों की विवेचनात्मक पद्धति से परीक्षण कर सम्पादन करने तथा उन पर सारगर्भित उपयोगी प्रस्तावना अंग्रेजी में लिखने में डॉ. उपाध्ये की प्रतिभा और विद्वत्ता असाधारण थी जिसकी सराहना अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की। डॉ. उपाध्ये को जिन प्राचीन कृतियों के सम्पादन का श्रेय है, उनमें उल्लेखनीय हैं- **पंचसूत्र** (१६३४ ई.), **प्रवचनसार** (१६३५ ई.), **परमात्मप्रकाश** (१६३७ ई.), **वरांगचरित** (१६३८ ई.), **कंसवहो** (१६४० ई.), **उसाणिरूद्धं** (१६४१ ई.), **वृहत् कथाकोश** (१६४३ ई.), **धूर्ताख्यान** (१६४४ ई.), **चन्द्रलेखा** (१६४५ ई.), **लीलावई** (१६४६ ई.), **आणंदसुन्दरी** (१६५५ ई.), **कुवलयमाला** (१६५६ ई.), **सिंगारमंजरी** (१६६० ई.), **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** (१६६० ई.), **प्रभाचन्द्र विरचित कथाकोश**, तथा **न्यायावतार**। इनके अतिरिक्त उन्होंने जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, से सन् १६४३ ई. से १६६४ ई. के मध्य प्रकाशित और पं. बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री द्वारा अनूदित निम्नलिखित ग्रन्थों का सम्पादन डॉ. हीरालाल जैन के

साथ किया - **तिलोयपण्णत्ती भाग १** (१६४३ ई.), **तिलोयपण्णत्ती भाग २** (१६५१ ई.), **जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो** (१६५७ ई.), **आत्मानुशासन** (१६६१ ई.), **पद्मनन्दि-पञ्चविंशति** (१६६२ ई.) तथा **पुण्यास्रवकथाकोश** (१६६४ ई.)।

डॉ. उपाध्ये भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, की सलाहकार समिति के सदस्य तथा उसकी मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला के मानद सम्पादक रहे । **जैन सिद्धान्त भास्कर, जैन एण्टीक्वेरी** और **अनेकान्त** जैसी शोध पत्रिकाओं के सम्पादन मण्डल में भी वह सम्मिलित रहे।

जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, से सन् १६६७ ई. में प्रकाशित एक सूची के अनुसार डॉ. उपाध्ये ने ३५ शोध-प्रबन्धों का प्रणयन किया था जिनमें से १८ उनकी मातृभाषा कन्नड में थे। साथ ही उनके १६५ शोध-पत्र विश्व की विभिन्न शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। उन्हें ७६ पुस्तक समीक्षाएं और १२ कृतियों के प्राक्कथन लिखने का भी श्रेय रहा। विश्वविद्यालयों के प्राकृत पाठ्यक्रम हेतु ग्रन्थों का लेखन भार भी उन्होंने सम्हाला।

सन् १६४१ ई. में हैदराबाद में तथा १६४६ में नागपुर में सम्पन्न अखिल भारतीय प्राच्य विद्या कान्फ्रेंस के प्राकृत, पालि, जैन एवं बौद्ध विभाग के अध्यक्ष डॉ. उपाध्ये ही रहे। सन् १६६३ ई. में जैन सिद्धान्त भवन, आरा, की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर डॉ. उपाध्ये को बिहार के राज्यपाल द्वारा 'सिद्धान्ताचार्य' के विरुद से अलंकृत किया गया। सन् १६६६ ई. में अलीगढ़ में सम्पन्न अ. भा. प्राच्य विद्या कान्फ्रेन्स के सम्पूर्ण अधिवेशन के वह सम्मान्य सभापति चुने गये। सन् १६६७ ई. में वह श्रवणबेलगोल में आयोजित कन्नड साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष मनोनीत हुए। सन् १६६८ ई. में प्राच्य विद्या कान्फ्रेन्स में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा जैन विद्या पर आयोजित सेमिनार में उन्होंने प्रमुख भूमिका का निर्वहन किया। सन् १६७१ ई. में वह आस्ट्रेलिया के केनबेरा नगर में आयोजित २८वें अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या कांग्रेस में भारत के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए और वहाँ अपने शोध-पत्र **'आचार्य पूज्यपाद और समन्तभद्र'** का वाचन किया। सन् १६७३ ई. में पेरिस में हुए २६वें अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लिया और वहाँ अपने शोध-पत्र **'यापनीय संघ'** का वाचन किया। उसी वर्ष उन्हें उनकी कृति **'गीता वीतराग'** के लिये स्वर्ण पदक प्रदान किया गया। सन् १६७४ ई. में बेलजियम में आयोजित धर्म एवं शान्ति के लिये हुई द्वितीय विश्व कान्फ्रेन्स में भाग लेने वह गये। सन् १६७५

ई. में मैसूर विश्वविद्यालय ने उन्हें उनकी शोध कृति **'सिद्धसेन का न्यायावतार'** पर स्वर्ण जयन्ती पुरस्कार प्रदान किया। उसी वर्ष स्वतन्त्रता दिवस पर भारत के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा उन्हें 'राष्ट्रीय संस्कृत पंडित' के विरुद से विभूषित किया गया। उसी वर्ष सितम्बर मास में उनका धारवाड़ में सार्वजनिक अभिनन्दन हुआ था। उस अवसर पर वह पूर्ण स्वस्थ प्रतीत होते थे। १० अक्टूबर, १९७५ ई. से जयपुर में आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में आयोजित जैन विद्या परिषद के छठे अधिवेशन की अध्यक्षता उन्हें करनी थी। उस हेतु उनकी स्वीकृति और अध्यक्षीय उद्‌बोधन भी संयोजक को यथासमय प्राप्त हो गये थे, किन्तु स्वास्थ्य प्रतिकूलता और चिकित्सकीय परामर्श के अनुसार उन्होंने दिनांक ५ अक्टूबर को अधिवेशन में भाग लेने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी और उसके तीन दिन पश्चात् ही ८ अक्टूबर, १९७५ ई. को कोल्हापुर में अपने निवास 'धवला' में ६९ वर्ष की वय में वह महाप्रयाण कर गये।

विद्वत्ता और विनम्रता का अद्‌भुत संगम डॉ. उपाध्ये के व्यक्तित्व में था। कर्मठता की वह साकार मूर्ति थे। सेमिनारों में भाग लेने वाले प्रायः उस अवसर पर अपने दैनन्दिन कार्यों से विरत रह अवकाश का उपभोग करते हैं, किन्तु उज्जैन में विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित 'भोज सेमिनार' में भाग लेने आये डॉ. उपाध्ये की कर्मठता का जो उल्लेख सहभागी डॉ. के. कृष्णमूर्ति ने अपने संस्मरण में किया है वह इस प्रकार है - 'डॉ. उपाध्ये के कमरे के बगल वाले कमरे में मैं ठहरा हुआ था। जल्दी उठने की आदत के कारण प्रातः बिस्तर छोड़कर तैयार होकर ६.०० बजे जब बाहर आया तो देखा कि डॉ. उपाध्ये के कमरे से प्रकाश आ रहा है और दरवाजा थोड़ा खुला हुआ है। भीतर जाकर जब मैंने उन्हें नमस्कार किया तो देखा कि वह स्नान कर, वेशभूषा से सज्जित साफा बांधे किसी जर्मन प्रोफेसर की पुस्तक, जिसका वह सम्पादन कर रहे थे, का प्रूफ संशोधन करने में मनोयोग से जुटे हुए थे।'

जैन विश्वभारती, लाडनूं, से अप्रैल-जून, १९७६ ई. में प्रकाशित **'तुलसी प्रज्ञा'** के स्मृति विशेषांक में समाहित डॉ. के. कृष्णमूर्ति, डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर, डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन, पं. बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, डॉ. नन्दलाल जैन और डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया के संस्मरणों से यह स्पष्ट है कि डॉ. ए. एन. उपाध्ये न केवल स्वयं प्रकाण्ड शोधक विद्वान थे अपितु शोध प्रवृत्ति को प्रवहमान रखने और उसकी गुणवत्ता बनाये रखने के लिये सदा व्यग्र

रहते थे। नवोदित शोधार्थियों को प्रोत्साहित करने और उनका कुशल मार्गदर्शन करने हेतु वह सदैव तत्पर रहते थे। शोधार्थियों को उनका सुझाव था कि उन्हें गम्भीर अध्ययन कर अपने शोध-प्रबन्ध लिखने चाहियें। शोध-उपाधि की अपेक्षा उन्हें शोध की गुणात्मकता अधिक पसन्द थी। उनका मानना था कि शोध-उपाधि का महत्व तब है जब शोधक आगे भी उस क्षेत्र में अपना योगदान करता रहे। अपने एक पत्र में डॉ. जोहरापुरकर को उन्होंने अपना अभिमत व्यक्त किया था कि 'ऐतिहासिक विषयों पर जो भी लेख हों उनमें आधारभूत सामग्री का पर्याप्त स्पष्ट निर्देश होना आवश्यक है ताकि आपने इस सामग्री से सही निष्कर्ष निकाले हैं या नहीं इसका अन्य संशोधक निर्णय कर सकें। अन्यथा एक विद्वान द्वारा जाने-अनजाने की गई भूल अन्य विद्वान दुहराते चले जाते हैं और आगे आने वाले संशोधकों को कठिनाई होती है।' शोध की दिशाओं की विविधता के भी वह पक्षपाती थे। डॉ. नन्दलाल ने लिखा है कि साहित्य, दर्शन और इतिहास के क्षेत्र में किये जाने वाले शोध कार्यों में नई विधाओं का समाहरण भी उन्हें रुचिकर था। जैन दर्शन के भौतिक वैज्ञानिक पक्ष की शोध ने भी उन्हें आकर्षित किया था। सम्पूर्ण जीवन प्राचीन साहित्य एवं इतिहास के शोधन को समर्पित रहे डॉ. उपाध्ये की विद्वत्ता और लोकप्रियता का यह प्रमाण रहा कि हर नया लेखक यह चाहता रहा कि प्राकृत और जैन साहित्य पर लिखी उसकी पुस्तक पर डॉ. उपाध्ये की मुहर लग जाये।

डॉ. उपाध्ये लेखनी ही नहीं वाणी के भी धनी थे। जब वह भाषण देने खड़े होते तो उनका भाषण और भाषण की विषयवस्तु सुधी श्रोता पर अपना प्रेरक प्रभाव बरबस उत्पन्न करते थे। वह प्रायः अंग्रेजी में भाषण देते थे, परन्तु अलीगढ़ में हुई प्राच्य विद्या कान्फ्रेन्स में उन्होंने डॉ. प्रचण्डिया के आग्रह पर हिन्दी में भाषण दिया था।

अपना सम्पूर्ण जीवन प्राच्य विद्या साहित्य की शोध को समर्पित करने वाले, प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में अधुनातन संसाधनों का उपयोग करने वाले डॉ. उपाध्ये का शोध-अवदान अविस्मरणीय है। बहुत शीघ्र ही उन्होंने अपनी विद्वत्ता से पं. जुगल किशोर मुख्तार और पं. नाथूराम प्रेमी सदृश वय ज्येष्ठ विद्वानों का आदर और स्नेह प्राप्त कर लिया। डॉ. हीरालाल जैन उनके सहयोगी रहे। जैन विद्या और भारतीय विद्या के क्षेत्र में कार्य करने वाले नये कार्यकर्ताओं को उनका उन्मुक्त सहयोग, मार्गदर्शन और स्नेह सतत सुलभ रहा। डॉ. के. कृष्णमूर्ति द्वारा सम्पादित वादिराज कृत **यशोधरचरित** पर अपना विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन लिखने का अनुग्रह उन्होंने किया।

साथ ही उन्हें अजितसेन की **अलंकार चिन्तामणि** का सम्पादन करने की प्रेरणा दी। डॉ. बी. के. खड़बड़ी को कन्नड ग्रन्थ **वड्डाराधने** तथा डॉ. प्रेमसुमन जैन को **कुवलयमाला कहा** पर कार्य करने की उनसे प्रेरणा और मार्गदर्शन मिला। डॉ. भागचन्द्र भास्कर के **'बौद्ध साहित्य में जैन धर्म'** विषयक शोध-प्रबन्ध को विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किये जाने के पूर्व उन्होंने स्वयं मंगाकर देखा और आवश्यक सुझाव दिये। डॉ. पुष्पलता जैन के शोध-प्रबन्ध **'मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्य भावना'** को पढ़कर उनका चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा और उन्होंने उन्हें शोधकार्य में अविराम जुटी रहने की प्रेरणा दी। हमारे पिताजी डॉ. ज्योति प्रसाद जैन भी उनके स्नेहभाजन रहे। डॉ. वाई. एस. सुक्थंकर और प्रो. पी. वी. काने सदृश भारतीय विद्वान उनकी सम्पादन कला के प्रशंसक रहे। कीथ, विन्टरनित्ज, एल्सडोर्फ, शुब्रिंग, हर्टेल और रिनोव प्रभृति प्रसिद्ध पाश्चात्य प्राच्यविद् विद्वान, जिनसे उनका सम्पर्क रहा, उनकी विद्वत्ता से अभिभूत रहे। उनके मरणोपरान्त सन् १९७७ ई. में शिवाजी विश्वविद्यालय तथा सन् १९८० ई. में मैसूर विश्वविद्यालय द्वारा उनकी स्मृति में 'डॉ. ए. एन. उपाध्ये मेमोरियल लेक्चर्स' का संयोजन किया गया।

सरल-सादा जीवन जीने वाले अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त डॉ. ए. एन. उपाध्ये अपने कृतित्व और व्यक्तित्व से आज भी अमर हैं। इस वर्ष ८ अक्टूबर को उन्हें प्रयाण किये हुए ३२ वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। इस अवसर पर उनकी पुण्य स्मृति को अपना भी सादर नमन् है।

८-१०-२००७ — **- रमा कान्त जैन**

"Mahavira was one of the earliest teachers of our country who preferred to speak to the people in their language. Naturally, he is to be remembered as the pioneer in the cultivation of the languages of the people, especially, what we are accustomed to call, the Prakrit languages. This is a very significant event in the history, preservation and evolution of Indian languages. The great teachers who followed in the footsteps of Mahavira have cultivated practically all the languages of our land in different places and at different times, having no special attachment for anyone language or the other."

Excerpts from Dr. A. N. Upadhye's General Presidential Address to Jain Vidya Parishad Sixth Seminar held at Jaipur on October 10, 1975 just after his demise.

सम्पादकीय

संगठन का उपाय

जैन समाज में विभिन्न सम्प्रदाय हैं, यथा - दिगम्बर आम्नाय में मूर्तिपूजक (तेरहपंथी और बीस पंथी), तारण पंथी और कानजी पंथी; तथा श्वेताम्बर आम्नाय में मूर्तिपूजक (विभिन्न समुदाय), स्थानकवासी और तेरापंथी; इनके अतिरिक्त भी कुछ समुदाय हो सकते हैं जैसे कि रक्ताम्बर। इन विभिन्न समुदायों में साधु वर्ग की कृपा से समाज छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटा हुआ है। श्रावक-श्राविकाओं के ये छोटे-छोटे टुकड़े किसी साधु या साध्वी के भक्त के रूप में प्रदर्शित होते हैं। सम्पूर्ण जैन समाज समग्र रूप से तीर्थंकर परम्परा में अन्तिम तीर्थंकर भगवान वर्धमान महावीर का अनुयायी है, परन्तु वास्तविक स्थिति में महावीर को भूलकर विभिन्न साधु-साध्वियों से बंध गया है।

स्थिति यह है कि एक ही आम्नाय के दो साधु-आचार्य ही अपनी मान-मर्यादा से ऊपर उठकर साथ चलने के लिये तैयार नहीं हैं। दूसरी आम्नाय की साधु संस्था से समन्वय और भाईचारे का तो प्रश्न ही नहीं है। साथ ही तीर्थों पर आधिपत्य और उन तीर्थों में प्राप्त होने वाली दानराशि पर अधिकार को लेकर समाज के नेताओं में बराबर द्वन्द मचा हुआ है। इस स्थिति में सार्वदेशिक ही नहीं स्थानीय स्तर पर भी समाज में विघटन है।

इस शोचनीय स्थिति का परिहार करने का एक उपाय प्रबुद्ध वर्ग द्वारा यह किया जा सकता है कि सभी आम्नायों के श्रावक-श्राविकाएं एक ऐसे मंच पर एकत्रित हों जो साधु-साध्वियों की अन्ध भक्ति के प्रभाव से मुक्त हो। आवश्यकता इस बात की है कि महावीर के चिन्तन का अनुशीलन इस प्रकार किया जाय कि उसका धर्म, दर्शन, संस्कृति और समाज के लिये योगदान का प्रचार-प्रसार वर्तमान युग की अपेक्षाओं के परिप्रेक्ष्य में किया जा सके।

उपर्युक्त उद्देश्य को लेकर इतिहास-मनीषी डॉ. ज्योति प्रसाद जैन और उनके अनुज श्री अजित प्रसाद जैन द्वारा **तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश,** की रजिस्टर्ड सोसायटी के रूप में सन् १९७६ ई. में स्थापना की गई थी। इस संस्था द्वारा चार कार्यक्रम विशेष रूप से संयोजित किये जा रहे हैं :- (१) शोध

पुस्तकालय का संचालन जिसमें आम्नाय निरपेक्ष समस्त जैन साहित्य का संकलन अभीप्सित है, तथा अन्य भारतीय एवं बाह्य धर्म एवं संस्कृतियों का भी साहित्य यथासंभव संग्रहीत किया जाता है ताकि तुलनात्मक अध्ययन संभव हो; विभिन्न शोधार्थी इस पुस्तकालय का उपयोग करते रहे हैं और काफी संख्या में शोध-प्रबन्ध पुस्तकालय की सहायता से प्रस्तुत किये गये हैं; (२) **'शोधादर्श'** - चातुर्मासिक शोध पत्रिका जिसका ६३वां अंक सद्यः प्रकाशित है; (३) निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान किया जाना जिससे लगभग एक सहस्र बालक-बालिकाएं लाभान्वित हुए हैं; तथा (४) असहाय व्यक्तियों को सहायता। समिति का लेखा प्रतिवर्ष चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट से आडिट कराके **'शोधादर्श'** में प्रकाशित किया जाता है। वर्ष २००६-०७ का लेखा **शोधादर्श-६२** में पृष्ठ ६७-७२ पर प्रकाशित है जिससे विदित होगा कि संस्था विपन्न अवस्था में नहीं है और अपने संसाधनों को इस प्रकार नियोजित करती है कि उसके ध्रौव्य फण्ड का क्षरण न हो वरन् उसमें प्रति वर्ष कुछ वृद्धि होती रहे।

संस्था की स्थापना के समय से ही हमारी अभिलाषा रही है कि संस्था का अपना निजी भवन हो जिसमें समिति की विभिन्न गतिविधियों को कार्यान्वित करने के लिये शोध पुस्तकालय, वाचनालय और सभा कक्ष आदि हेतु सभी आवश्यक व्यवस्था हो। तीर्थंकर भगवान वर्धमान महावीर की स्मृति में उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में बनने वाला यह भवन ऐसा भव्य और आकर्षक होना अभीप्सित है कि दिग्-दिगन्त से दर्शक देखने और इसका लाभ उठाने आवें। अपने सीमित संसाधनों से, चाहकर भी, हम अपनी इच्छा को मूर्तरूप नहीं दे पा रहे हैं। यह कार्य तभी संभव है जब समाज के ऐसे दानवीर जो आम्नाय निरपेक्षता में विश्वास रखते हों सहयोग हेतु आगे आयें।

समाज में आज पत्र-पत्रिकाएं कहने को बहुत निकल रही हैं, किन्तु ऐसी विरल ही हैं जो आम्नाय निरपेक्ष हों और युक्तियुक्त चिन्तन को प्रश्रय देती हों। **जैन धर्म, संस्कृति और समाज के उज्ज्वल पक्ष को उजागर कर और विवादास्पद बिन्दुओं से यथासंभव बचते हुए आम्नाय निरपेक्ष युक्तियुक्त चिन्तन को प्रस्तुत कर समाज में संगठन और सौहार्द की दिशा में अग्रसर हुआ जा सकता है। हमारे पत्रकार-सम्पादक मित्र, आशा है, इस ओर ध्यान देंगे।**

इस कार्तिक अमावस्या को भगवान वर्धमान महावीर के निर्वाण को २५३४ वर्ष पूरे हो गये और नव वर्ष प्रारम्भ हो गया। उनकी ज्ञान-ज्योति को हम प्रज्वलित रखें। उनकी स्मृति को नमन करते हुए सुधी पाठकवृन्द के नये नववर्ष के लिये मंगल कामना के साथ इत्यलम्।

- रमा कान्त जैन

अकलंकदेव और हरिभद्र का पूर्वापर

- डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

(अपने गुरुगुण-कीर्तन में हमने शोधक विद्वान डॉ. ए. एन. उपाध्ये द्वारा नये शोधार्थियों को दिये गये कतिपय सुझावों का उल्लेख किया है। उसी कड़ी में **जैन सन्देश शोधांक ४३** (२६ जून, १९८० ई.) में पृष्ठ ११२-११४ पर प्रकाशित डॉ. ज्योति प्रसाद जी के लेख 'अकलंकदेव और हरिभद्र का पूर्वापर' को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है जिसमें उन्होंने शोध-प्रबन्धों की प्रामाणिकता सुनिश्चित करने हेतु शोध-प्रबन्धकर्ताओं को मुद्रण कराने के पूर्व उनमें अयथार्थ, भ्रान्त या भ्रामक कथनों से बचने का परामर्श दिया है। - सम्पादक)

तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, अष्टशती, लघीस्त्रय, प्रमाण संग्रह, सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय प्रभृति सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के प्रणेता महान् वादी भट्टाकलंकदेव सातवीं शती ई. के उत्तरार्ध के विद्वान् हैं, यह प्रायः सुनिश्चित है। राईस आदि कुछ प्रारम्भिक प्राच्यविदों ने एक भ्रान्त आधार पर उनका समय ७८८ ई. अनुमान किया था। पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने, कुछ इस मत से प्रभावित होकर तथा कुछ एक अन्य भ्रमपूर्ण धारणा के वशीभूत होकर, अकलंक का समय ७४०-७८० ई. निर्धारित कर दिया था किन्तु वह मान्य नहीं हुआ। पं. जुगल-किशोर मुख्तार, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, अन्य कई विद्वानों ने तथा स्वयं हमने पर्याप्त ऊहापोह के पश्चात् पुष्ट प्रमाण बाहुल्य के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि अकलंकदेव के समय की पूर्वावधि ६४० ई. के लगभग पड़ती है और उत्तरावधि ७२० ई. के पश्चात् किसी प्रकार नहीं जाती। अन्ततः पं. महेन्द्रकुमार जी भी इस मत का औचित्य स्वीकार करने लगे थे।

शताधिक विविध विषयक महत्वपूर्ण कृतियों के रचयिता याकिनी महत्तरा-सूनू विरहांक हरिभद्रसूरि का समय मुनि जिनविजय जी ने ७००-७७० ई. निर्धारित किया था, और उसमें मुख्य हेतु उद्योतन सूरि द्वारा अपनी **कुवलयमाला** (७७९ ई.) की प्रशस्ति में अपने न्यायविद्या गुरु के रूप में हरिभद्र का उल्लेख किया जाना था। इस तथ्य में सन्देह नहीं है, किन्तु हरिभद्र द्वारा मल्लवादी, भट्टजयन्त और शान्तरक्षित के ग्रन्थों या मतों का उल्लेख किये जाने से स्पष्ट है कि हरिभद्र ८०० ई. के उपरान्त भी कुछ समय तक विद्यमान रहे थे क्योंकि वे तीनों विद्वान् ८०० ई. व उसके कुछ उपरान्त भी जीवित रहे सिद्ध होते हैं। इस प्रकार हरिभद्र सूरि का समय लगभग ७२५ ई. और ८०० या ८२५ ई. के मध्य निश्चित होता है। अतएव स्पष्ट है कि हरिभद्रसूरि का उदय अकलंकदेव के अवसान के कुछ समय पश्चात् हुआ था।

कतिपय विद्वानों को यह पक्ष-सा रहता आया है कि समन्तभद्र को सिद्धसेन दिवाकर का और अकलंक को हरिभद्र का परवर्ती प्रचारित किया जाय। क्या ऐसा करने से इनमें से किसी का महत्व घट या बढ़ जाता है ? अकलंक और हरिभद्र दोनों ही दिग्गज आचार्य हैं। जैन धर्म की प्रभावना और जैन साहित्य के संवर्द्धन में दोनों का ही अप्रतिम योगदान है। वे जैन परम्परा के ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के गौरव हैं। अतः अकलंक को हरिभद्र का परवर्ती घोषित करने की चेष्टा मात्र पक्ष व्यामोह है, उसमें ऐतिहासिक दृष्टि नहीं है।

प्राकृत, जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, से १९७५ ई. में प्रकाशित डॉ. प्रेमसुमन जैन का शोध-प्रबन्ध **'कुवलयमाला कहा का सांस्कृतिक अध्ययन'** अभी हाल में देख रहा था कि उसके पृ. ३८१ पर उससे भी विचित्र कथन दृष्टिगोचर हुआ - "अनेकांतवाद के प्रतिष्ठापक अकलंक भी उद्योतनसूरि के निकट परवर्ती आचार्य जान पड़ते हैं। समकालीन होने पर उद्योतन उनका अवश्य उल्लेख करते। उद्योतनसूरि के ५ वर्ष बाद रचना करने वाले आचार्य जिनसेन ने भी अपने **हरिवंश पुराण** में अन्य जैन आचार्यों के साथ अकलंक का स्मरण नहीं किया। अतः इस युग में अनेकान्त की प्रसिद्धि तो हो चुकी थी किन्तु उसे पूर्ण प्रतिष्ठा आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होने वाले अकलंक के द्वारा ही मिली होगी।"

पुनः पृ. ३७६ -"उद्योतन (१५१-१) के संदर्भ से ज्ञात होता है कि जैनदर्शन के लिए उस समय अनेकांतवाद (अणेयंत-वायं) शब्द प्रयुक्त होता था। ...यह विचारणीय है कि यह शब्द कब से इस दर्शन में प्रयुक्त हुआ तथा अकलंक का इसके साथ क्या सम्बन्ध था जिसके संबंध में उद्योतन ने कोई संकेत नहीं दिया है। दोनों ही आचार्य आठवीं शताब्दी के होने के कारण, इस प्रश्न पर विचार करना महत्वपूर्ण हो जाता है। हरिभद्र सूरि ने 'अनेकान्तवाद' शब्द का प्रयोग किया है। इसके पूर्व भी इस शब्द के प्रयुक्त होने की संभावना है।"

तदनन्तर पृ. ४०० पर -"आचार्य अकलंक का भी उद्योतन ने उल्लेख नहीं किया, जो उनके समकालीन माने जाते हैं।"

उक्त शोध प्रबंध के विद्वान लेखक के उपरोक्त असम्बद्ध, परस्पर विरोधी, युक्तिविहीन एवं प्रमाणबाधित कथनों की समीक्षा करना व्यर्थ है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में अकलंक तथा हरिभद्र के समयादि पर तथा अनेकान्त विषयक उनके अपने-अपने योगदान पर कोई ऊहापोह तो किया ही नहीं है, उस सम्बन्ध में अब तक जो शोध-खोज हो चुकी है, उसका भी कोई अवलोकन किया प्रतीत नहीं होता। ऐसा लगता है कि उनका अभीष्ट मात्र इतना ही था कि अकलंक को हरिभद्र का ही नहीं वरन्

उनके एक शिष्य और सामान्य अनुमानतः परवर्ती, उन उद्योतन सूरि का भी परवर्ती घोषित कर दिया जाय जिनकी **कुवलयमाला** की रचनातिथि डॉ. जैकोबी की गणना के अनुसार, तथा डॉ. उपाध्ये द्वारा स्वीकृत, २१ मार्च, ७७९ ई. है (पृ. ५-६)। ऐसा उन्होंने किस प्रभाव या भ्रान्त धारणा के वशीभूत होकर किया, यह तो वह स्वयं ही बता सकते हैं।

ऐसा ही एक अन्य विचित्र कथन पृ. ३८-३९ पर प्राप्त होता है - "**पद्मचरित** में महाकवि रविषेण ने रामकथा संस्कृत में लिखी है। इनका समय लगभग ७७६ ई. माना जाता है। **पद्मचरित** अब हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है। रविषेण और उद्योतन एक ही समय के होने के कारण परस्पर परिचित भी हो सकते हैं तथा दोनों के ग्रन्थों में कुछ पारस्परिक प्रभाव खोजे जा सकते हैं।"

रविषेण द्वारा **पद्मचरित** की रचना तिथि, सुनिश्चित एवं सर्वमान्य, महावीर निर्वाण संवत् १२०३ अर्थात् सन् ६७६ ई. है। डाक्टर साहब ने उसे पूरे एक सौ वर्ष आगे खींचकर रविषेण को उद्योतन (७७९ ई.) का समकालीन घोषित कर दिया ! खैर यही हुई कि उन्होंने इनके तथाकथित 'पारस्परिक प्रभाव' खोजने का प्रयास नहीं किया।

शोध-प्रबन्ध लिखते समय बहुधा शोधार्थी कुछ अपरिपक्व ही रहते हैं। शोध-प्रबन्धों के परीक्षक भी प्रायः रस्म अदाई करते हैं। किन्तु जब वह प्रबन्ध विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत हो जाता है, उसके लिए शोधार्थी को 'डॉक्टर आफ फिलासफी' की उपाधि से सम्मानित कर दिया जाता है, और उक्त शोध प्रबन्ध को पुस्तकाकार मुद्रित-प्रकाशित कराने की सुविधा भी उपलब्ध हो जाती है, तो **लेखक का यह कर्तव्य और उत्तरदायित्व हो जाता है कि प्रेस में देने से पूर्व ग्रन्थ को सावधानीपूर्वक आद्योपान्त देख ले और उसमें उचित एवं आवश्यक संशोधन कर ले। लेखक के नाम के साथ अब 'डाक्टर' की उपाधि लगी होती है और उसके शोध-प्रबन्ध की अपनी एक प्रामाणिकता होती है। भावी शोधार्थी उसे प्रमाण मानकर चलते हैं। अतएव ऐसे ग्रन्थ लेखकों को यथासंभव अयथार्थ, भ्रान्त या भ्रामक कथनों से बचकर लिखना ही श्रेयस्कर है।**

डॉ. प्रेमसुमन जी हमारे शिष्य तुल्य हैं। वह बड़े अध्यवसायी एवं उत्साही उदीयमान विद्वान हैं। हमें उन पर गर्व है और उनसे बड़ी आशाएं हैं। हमें विश्वास है कि वह प्रस्तुत समीक्षा को अन्यथा नहीं लेंगे, वरन् इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे, और ग्रन्थ की अवशिष्ट प्रतियों में अपना स्पष्टीकरण छपवा कर, प्राक्कथन के आदि में चिपकवा देंगे।

वीरचंद्र राघवजी गांधी

सितम्बर १८९३ ई. में शिकागो में आयोजित 'प्रथम विश्व धर्म संसद' में भारत से आमंत्रित जिन विद्वानों ने भाग लिया था, वे थे- श्रीमती एनीबेसेन्ट तथा सर्वश्री वीरचंद्रराघवजी गांधी, प्रतापचंद्र मजूमदार और जगहकरी। साथ ही स्वामी विवेकानन्द ने व्यक्तिगत प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया था। उक्त धर्म संसद में जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाले २९ वर्षीय श्री वीरचंद्र राघवजी गांधी का व्याख्यान २५ सितम्बर को हुआ था जो 'नीलीज् हिस्ट्री ऑफ रिलीजन्स' के पृष्ठ ७३३-७३६ पर उद्धृत है। अपने भाषण में श्री गांधी ने जैन धर्म के सिद्धान्तों को तो युक्तियुक्त और प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया ही साथ ही पहले दिन किसी वक्ता द्वारा हिन्दू धर्म की नैतिकता पर अनुचित कटाक्ष किये जाने का सयुक्तिक मुँहतोड़ उत्तर देकर समूचे भारत का परचम संसद में लहरा दिया। उनके उस प्रभावी रोचक व्याख्यान की व्यापक सराहना प्रसिद्ध अमेरिकी समाचार पत्रों में हुई।

२५ अगस्त, १८६४ ई. को गुजरात में भावनगर के पखिर स्थान में श्वेताम्बर जैन परिवार में जन्मे वीरचंद्र गांधी ने २० वर्ष की वय में बी.ए. परीक्षा उत्तीर्ण कर सामाजिक कार्यों में भाग लेना आरम्भ किया। उन्होंने वकालत भी शुरू की तथा सम्मेदशिखर पर जैनों का अधिकार प्रमाणित कर वहां वधशाला का निर्माण रुकवाने जैसे अनेक महत्वपूर्ण मुकदमों में सफलता प्राप्त की। वह समाज-सुधारक थे। 'व्यक्ति निधन' पर छाती तथा माथा पीटने की प्रथा उन्होंने अपने घर से ही बन्द की। विश्व संसद से लौट कर आने पर उन्हें अमेरका से अनेक आमंत्रण प्राप्त हुए। वह १८९६ ई. में पुनः अमेरिका गये और वहाँ दो वर्ष रहे। उस अवधि में वहाँ विभिन्न नगरों में उन्होंने विविध विषयक ५३५ व्याख्यान दिये जिनमें निर्भीकता, स्पष्टवादिता, सत्यप्रियता तथा विश्व-बंधुत्व की भावना की झलक तो थी ही, राष्ट्र-गौरव की अनुभूति तथा विदेशी दासता के विरुद्ध तड़प तथा विद्रोह की भावना भी थी, जो तत्समय जीवन जोखिम में डालने वाली थी। इंगलैण्ड में भी व्याख्यान दिये और वहाँ रहकर बैरिस्टरी का अध्ययन पूर्ण किया। विविध विषयों और भाषाओं के ज्ञाता इन तेजस्वी वक्ता को विदेशों में अनेक रजत एवं स्वर्णपदकों से सम्मानित किया गया। भारत में भी महादेव गोविन्द रानाडे की अध्यक्षता में उनका अभिनंदन किया गया। स्वास्थ्य प्रतिकूलता के चलते इस प्रतिभाशाली युवक को मात्र ३७ वर्ष की आयु में ७ अगस्त, १९०१ ई. को काल ने इस संसार से छीन लिया। इस वर्ष अगस्त में उनकी १४३वीं जन्म जयन्ती और १०६वीं पुण्यतिथि पर उन्हें हमारा सादर नमन है।

- रमा कान्त जैन

जैन धर्म की सार्वभौमिकता

- श्री अजित प्रसाद जैन

आर्य संस्कृति में वैदिक विचारधारा को प्राचीनतम माना जाता है। किन्तु इस संस्कृति में श्रमण विचारधारा भी प्रायः उतनी ही प्राचीन है। वर्तमान में श्रमण विचारधारा का प्रतिनिधित्व जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म करते हैं। जैन धर्म के आदि उपदेष्टा भगवान ऋषभदेव माने जाते हैं जिनकी स्तुति **ऋग्वेद** में भी की गई है और जिन्हें वैदिक संस्कृति में भी भगवान के एक अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है। जैन धर्म के २४वें तथा अन्तिम उपदेष्टा तीर्थंकर भगवान महावीर थे जिनका २५००वां निर्वाण महोत्सव वर्ष हम आजकल (१६७४-७५ ई. में) मना रहे हैं।

जैन धर्म के तीर्थंकरों ने अपने द्वारा उपदिष्ट धर्म को अनादि और अनंत कहा है। जैन धर्म के अनुसार वस्तु के स्वभाव का नाम ही धर्म है। जिस मार्ग को अपनाने से जीवात्मा अपने गुणों को पूरे तौर से विकसित कर ले उसी को धर्म कहा गया है। जैन धर्म में क्रियाकांड, पूजा, उपासना का कोई विशेष महत्व नही है। इनकी सार्थकता केवल उसी सीमा तक है जिस तक कि वे आत्मा के गुणों को विकसित करने में सहायक हों।

जैन धर्म का उपदेश अत्यन्त व्यावहारिक, विवेकपूर्ण, सार्वकालीन तथा सार्वभौमिक है। संसार के सभी प्राणी दुख ग्रस्त हैं। वे सभी दुख से छुटकारा तथा सुख की प्राप्ति चाहते हैं और सदा सुख की प्राप्ति के प्रयास में लगे रहते हैं। भ्रमवश वे इच्छाओं की पूर्ति में सुख खोजते हैं, लेकिन मनुष्य का भ्रम शीघ्र ही दूर हो जाता है जब वह देखता है कि पहले तो कोई भी इच्छा पूरी तौर से तृप्त नहीं होती, दूसरे यदि एक इच्छा की पूर्ति हो भी जाती है तो उसी के स्थान पर अनेक नई इच्छाएं पैदा हो जाती हैं। जैन धर्म में तीर्थंकरों ने उपदेश दिया है कि सच्चा सुख इच्छाओं की पूर्ति में नहीं है वरन् आत्म संयम, इन्द्रिय जय और इच्छाओं के निरोध में है। इस संसार में केवल दो शाश्वत द्रव्य हैं - जीव और अजीव।

जैन धर्म की दृष्टि में न केवल सभी मनुष्य एक समान हैं, वरन् जितने भी जीवधारी हैं चाहे वह सर्वोत्कृष्ट प्राणी मनुष्य हो और चाहे वह सबसे निकृष्ट कीट पतंगा आदि हों सबमें एक सी ही आत्मा है और सब में अपनी आत्मा का पूर्ण उत्कर्ष करने की, आत्मा से परमात्मा बन जाने की क्षमता विद्यमान है। आत्मा अपने स्वयं

के कृत्यों के परिणामस्वरूप कर्मों के जाल में बंधा होकर ऊंची-नीची योनि प्राप्त करता रहता है तथा सुख-दुख भोगता रहता है, यही जीव का संसार भ्रमण है।

इस संसार भ्रमण में जीव को जो कभी पुण्य कर्म के फल स्वरूप किंचित् सुख की प्राप्ति होती है वह अस्थायी होती है। वह सुख न होकर केवल सुख का आभास मात्र ही होता है। सच्चा शाश्वत अनंत सुख मुक्ति में ही मिलता है जब आत्मा से कर्मों का आवरण हट जाता है और आत्मा अपने पूर्ण गुणों में स्थिर हो कर अनंत सुख में लीन हो जाती है तथा परमात्मा पद को प्राप्त कर लेती है। इस परमात्मा पद को प्राप्त करने के तरीके को ही जैन विचारधारा में धर्म कहा गया है जिसे जैन तीर्थंकरों ने दस रूप गिनाया है। **क्षमा** या अक्रोध अर्थात् किसी के प्रति बदले की भावना न रखना, **मार्दव** अर्थात् मान का त्याग करना, **आर्जव** अर्थात् मन-वचन-काय से परिणामों में सरलता रखना, जैसा कहना वैसा करना तथा मायाचार का त्याग करना, **शौच** अर्थात् लोभ का परित्याग करना, अपनी आत्मा को शुद्ध करना, **सत्य** अर्थात् किन्हीं भी परिस्थितियों में झूठ का आश्रय न लेना, **संयम** एवं **तप** अर्थात् अपने मन व शरीर के व्यापारों पर पूरे नियंत्रण का अभ्यास करना, कामेन्द्रिय का दमन करना, इच्छाओं का पूर्ण निरोध करना तथा पांचों इन्द्रियों को वश में करना, **त्याग** अर्थात् अपनी इच्छाओं को सीमित करके आवश्यकता से अधिक अपनी धन सम्पत्ति को सुपात्रों में दान कर देना, **आकिंचन्य** अर्थात् सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर देना व किसी भी वस्तु की आकांक्षा न करना, तथा **ब्रह्मचय** अर्थात् मन-वचन-काय से कामेषणा का पूर्ण परित्याग करके आत्मा में लीन होना। ये ही जैन तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट दस धर्म हैं जिनका पालन करके व्यक्ति मोक्ष अर्थात् अपनी आत्मा के गुणों एवं शक्तियों को पूर्ण रूप से विकसित करके अनन्त सुख की प्राप्ति कर सकता है तथा स्वयं परमात्मा बन सकता है। यही मोक्ष मार्ग है और इस पर चलने की क्षमता सभी प्राणियों में विद्यमान है और इसके लिए मनुष्य को स्वयं ही प्रयास करना पड़ता है। किसी की कृपा से या केवल भक्ति या उपासना से मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता। इस मोक्ष मार्ग पर चलने के लिए किसी को जैन धर्म में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं है। धर्म के इस रूप में किसी सम्प्रदाय विशेष की कोई गन्ध नहीं है। इसीलिए इसे सार्वभौम धर्म कहा है।

जैन धर्म ने **अपरिग्रहवाद** पर विशेष बल दिया है। यह स्वेच्छा से समाजवाद लाने का प्रयास है। जैन तीर्थंकरों का कहना है कि अपनी इच्छाओं को सीमित रखो,

आवश्यकता से अधिक धन का संचय करना चोरी व हिंसा है। अपनी आवश्यकताओं से अधिक जो धन व सम्पत्ति हो उसे समाज के कमजोर वर्गों में स्वयं अपनी इच्छा से बांट दो। यदि जैन तीर्थंकरों की इस शिक्षा का कुछ अंश में भी समाज पालन कर ले तो फिर सामाजिक क्रांतियों की आवश्यकता ही न रह जाय। समाज में स्वतः ही विषम असमानताएं नहीं रह जायेंगी।

जैन तीर्थंकरों की दूसरी अमूल्य देन **अनेकांतवाद** अर्थात् सहिष्णुतावाद है। विचार भेद के कारण मत-पंथों और सम्प्रदायों का जन्म होता है और उसी के कारण संघर्ष होता है। भगवान महावीर ने इसी संघर्ष की जड़ पर प्रहार करते हुए कहा कि अनेकांत के द्वारा किसी भी मत, पंथ या सम्प्रदाय में कथित विचारधारा और आचार पद्धति को किसी एक ही दृष्टिकोण से न देखकर उसकी दृष्टि से भी देखो, उसकी अपेक्षा से भी देखो। जब व्यक्ति दूसरे के मत, पंथ, सम्प्रदाय या दर्शन पर भी शांतिपूर्वक सहिष्णुता से विचार करता है तो विरोध स्वयं ही समाप्त हो जाता है। समन्वय दृष्टि में संघर्ष नहीं रहता। एकांत कदाग्रह सत्य नहीं कहा जा सकता। कोई विचार तभी पूर्ण सत्य कहा जा सकता है जब उसे सभी पहलुओं से जांचा परखा जाय। उसी तथ्य एवं सत्य का नाम अनेकांतवाद है। भगवान महावीर का अनेकांतवादी सिद्धांत विश्व के समस्त दर्शनों, धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और पंथों का समन्वय करता है। यह विश्व को शिक्षा देता है कि विश्व के सभी धर्मों में जहां कहीं जो सत्यांश है उसका आदर करो और जो असत्यांश है उसको लेकर किसी से घृणा या द्वेष न करो क्योंकि घृणा आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है और इसी से आपसी क्लेश, मनोमालिन्य और वैर-विरोध की भावना जन्म लेती है। अनेकांतवाद का सिद्धांत सह-अस्तित्व के सिद्धांत पर आधारित है और जैन धर्म की सार्वभौमिकता का परिचायक है।

जैन धर्म का सर्वोपरि सिद्धांत **अहिंसा** है। यहां तक कि **अहिंसा** जैन धर्म का पर्यायवाची शब्द बन गया है। भगवान महावीर का कथन है कि किसी भी जीव को कष्ट नहीं देना चाहिए। सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, सुख सबको अच्छा लगता है और दुख बुरा, वध सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय। अतः किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। हिंसा केवल किसी जीव के प्राण नष्ट करने में ही नहीं है अपितु उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाने या दुर्वचन कहने से भी होती है। मानव सभ्यता के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टि डालने से यह बात साफ हो जाती है कि खुदगर्जी और अदया का त्याग तथा संवेदना, सहृदयता, सहयोग, मैत्री, करुणा आदि

अहिंसा के विभिन्न अंग ही मानव सभ्यता के मूल आधार हैं और उसकी प्रेरक शक्तियां हैं। मनुष्य का चरम विकास हिंसक प्रवृत्ति के सर्वथा परित्याग और अहिंसक प्रवृत्ति की पूर्ण उपलब्धि में ही निहित है। किसी को मारना या शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट पहुंचाना अनुचित ही नहीं भयंकर पाप है। जब मनुष्य यह समझ जाता है तो उसका आत्मिक विकास आरंभ हो जाता है और वह सभ्य कोटि में गिना जाता है। दूसरों की हित कामना में रत रहने वाली अहिंसक आत्माएं ही धर्मात्माएं कहलाती हैं। यही कारण है कि विश्व में जब-जब और जहां-जहां जो भी धर्म प्रचलित हुए हैं उन सबके प्रवर्तकों ने अपने उपदेशों में अहिंसा और विश्व-मैत्री के सिद्धांतों पर बल दिया है और खुदगर्जी और क्रूरता को हेय बताया है। हमारे राष्ट्र की आधारशिला ही अहिंसा एवं सह-अस्तित्व के सिद्धांतों पर रखी गयी है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा के अस्त्र का अभूतपूर्व प्रयोग करके इस विशाल देश को स्वतंत्रता प्राप्त करा दी तथा अहिंसा धर्म की व्यावहारिकता सिद्ध कर दी।

वस्तुतः जैन धर्म की समस्त शिक्षाओं का प्रमुख लक्ष्य मनुष्य के वैयक्तिक या सामाजिक जीवन में जो अनेक प्रकार की विषमताएं हैं, जो उसकी संकीर्ण मनोवृत्ति या अहम् के कारण नित्य उत्पन्न होती रहती हैं, उन्हें दूर करके पारस्परिक समताभाव की स्थापना करना है तथा वैयक्तिक विषमताओं को संयम - साधना और इच्छाओं पर नियंत्रण करके दूर करना है। **अहिंसा** तथा **परस्परोपग्रहो जीवानाम** के सिद्धांत पर चल कर किसी को भी कष्ट न पहुंचाना तथा दूसरों की सेवा सहायता के लिए सदैव तत्पर रहना और **अचौर्य** एवं **अपरिग्रह** या सीमित परिग्रह द्वारा समस्त आर्थिक विषमताओं का उन्मूलन करना, **अनेकांत** द्वारा वैचारिक समत्व साधना, **स्याद्वाद** द्वारा वाक् संयम और जीवन में **सत्य** की प्रतिष्ठा द्वारा आत्मोन्नयन के पथ पर बढ़ते रहना ही जैन धर्म के उपदेशों का सार है। वह देश और काल की सीमाओं से बद्ध नहीं है - सार्वकालिक है, सार्वभौमिक है तथा विश्व के समस्त मानवों के लिए समान रूप से हितकर, उपादेय और आचरणीय है। किसी धर्म से, पर मत से, इसका कोई विरोध नहीं है। यह विश्व धर्म है।

(भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष में आकाशवाणी लखनऊ से 'लोकायतन कार्यक्रम' के अन्तर्गत दिनांक १६.४.१६७५ को प्रसारित वार्ता)

भगवान महावीर की प्रथम सहस्राब्दी

- डॉ. शशि कान्त

वर्तमान में भगवान महावीर का तीर्थ चल रहा है। श्रमण जैन परम्परा में महावीर चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर मान्य हैं।

वर्धमान महावीर का निर्वाण जैन काल-गणना का विशिष्ट पथ-चिह्न है। अनुश्रुति के अनुसार काल-चक्र के प्रवृत्त कल्प के अवसर्पिणी काल-खण्ड के चतुर्थ काल में जब तीन वर्ष और साढ़े आठ माह शेष रह गये थे तो कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अमावस्या को इस काल-खण्ड के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने निर्वाण लाभ किया था। परम्परा के अनुसार यह तिथि विक्रम सम्वत् से ४७० वर्ष पहले और शक सम्वत् से ६०५ वर्ष ५ माह पूर्वगत थी, अर्थात् ईस्वी सन् से ५२७ वर्ष पहले यह घटना घटी थी। महावीर ने ७१ वर्ष ६ माह १८ दिन की आयु पाई और तदनुसार उनका जन्म चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को ईस्वी सन् से ५९९ वर्ष पहले हुआ था। इस अपेक्षा से महावीर की प्रथम सहस्राब्दी ईस्वी पूर्व ६०० से ईस्वी सन् ४०० पर्यन्त रखी जा सकती है।

उपरोक्त एक सहस्र वर्ष का समय भारत के इतिहास में विशेष महत्व रखता है। इस काल-अवधि में धर्म व्यवस्था, समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में मूलभूत चिन्तन हुआ, रूढ़िगत परम्पराओं का संस्कार किया गया और सुगठित प्रशासनिक व्यवस्था को स्थापित करने के प्रयत्न किये गये।

श्रमण परम्परा में लोक-श्रुति

भगवान महावीर के आविर्भाव के समय छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व में श्रमण परम्परा में यह लोक-श्रुति प्रचलित थी कि अन्तिम तीर्थंकर के रूप में एक महापुरुष जन्म लेंगे। बौद्ध अनुश्रुति से यह विदित होता है कि निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (निगण्ठ नातपुत्त) महावीर के अतिरिक्त शाक्यमुनि गौतम बुद्ध, मक्खलि गोसाल, पूरण कस्सप, पकुध कच्चायन, अजित केसकम्बलिन और संजय वेलट्ठिपुत्त ने विशेष रूप से तीर्थंकर होने का दावा किया था। महावीर द्वारा व्यवस्थित जैन धर्म और बुद्ध द्वारा संस्थापित बौद्ध धर्म आज भी विद्यमान हैं। मक्खलि गोसाल द्वारा प्रवर्तित आजीवक सम्प्रदाय भी कई सौ वर्ष चला। पूरण कस्सप के अनुयायी **कस्सपीय अरहंतों** का भी अभिलेखीय उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा में ऋषभनाथ से प्रारम्भ चौबीस तीर्थंकरों की श्रृंखला में

महावीर को चौबीसवां और अन्तिम तीर्थंकर मान्य किया गया है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का समय महावीर के निर्वाण से ढाई-सौ (२५०) वर्ष पहले माना जाता है।

तत्कालीन धर्म व्यवस्था

विविध साहित्यिक सन्दर्भों से यह विदित होता है कि उस समय **वेदों** पर आश्रित धर्म व्यवस्था में ऋषियों द्वारा प्रसूत ऋचाओं को देवोपम ज्ञान का स्रोत माना जाता था और उस ज्ञान का एक मात्र संरक्षक एवं व्याख्याता ब्राह्मण पुरोहित वर्ग था। ब्राह्मण वर्ग ने अपनी श्रेष्ठता सुनिश्चित करने के लिए वर्ण व्यवस्था को जन्म-आश्रित और कठोर बना दिया था। उन्होंने अन्य तीन वर्णों अर्थात् राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य और शूद्र को **वेदों** के पठन-पाठन से वंचित कर दिया और सम्पूर्ण ज्ञान का माध्यम एक मात्र संस्कृत भाषा को कर दिया जो जनसामान्य के लिए दुर्बोध थी। धर्म के नाम पर वैदिक यज्ञों को अधिक से अधिक आडम्बरपूर्ण और व्ययसाध्य बना दिया गया। वैदिक यज्ञों में पशु बलि का विशेष रूप से समावेश किया गया जिससे कृषि योग्य पशुओं का भी भारी संख्या में वध किया जाने लगा। इस व्यवस्था को **ब्राह्मण-वैदिक धर्म** के रूप में जन सामान्य में मान्यता प्राप्त थी।

इस आडम्बरपूर्ण हिंसात्मक यज्ञ और ब्राह्मण श्रेष्ठत्व को प्रतिष्ठित करने वाली धर्म व समाज व्यवस्था को तत्कालीन प्रबुद्ध वर्ग पूर्णतया स्वीकार नहीं कर सका। ब्राह्मण परम्परा के ही कुछ चिन्तकों ने **आरण्यकों** और **उपनिषदों** के माध्यम से दार्शनिक ऊहापोह प्रारम्भ कर दी। ये चिन्तक सत् के अन्वेषण हेतु जिज्ञासा और चर्चा करते थे। वे यज्ञों को और उनमें निहित आडम्बर व हिंसा को उपादेय नहीं मानते थे तथापि वे भी **वेदों** को ही अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करते थे, संस्कृत भाषा को ही अपना माध्यम रखते थे और वर्णव्यवस्था का प्रकट विरोध नहीं करते थे। **वेद**-आश्रित यह समस्त व्यवस्था प्रवृत्तिमूलक थी और इसमें लौकिक अभ्युदय की कामना मूलभूत थी।

इस आडम्बरपूर्ण व्यवस्था के प्रति जनसामान्य की विरोध की भावना को राजन्य वर्ग के युवा मनीषियों ने अपने चिन्तन द्वारा स्वर दिया। यह चिन्तन-धारा **श्रमण परम्परा** के रूप में जानी जाती है। यह चिन्तन निवृत्ति-प्रधान था और इसमें तप, त्याग एवं संयम द्वारा अपनी इच्छाओं का निरोध तथा अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा ही अपनी आत्मा का क याण करना अभीष्ट था। इस चिन्तन का मूल विन्दु लौकिक अभ्युदय के बजा निःश्रेयस (सर्वथा विरक्ति,

अनासक्ति) है। इस चिन्तन में **वेदों** को प्रमाण नहीं माना गया है। व्यक्ति के कल्याण और उसके उन्नयन के लिए किसी दैवी या बाहरी शक्ति को हेतु नहीं माना गया है वरन् व्यक्ति के स्वयं के आचरण को ही उसके दुःख-सुख के लिए उत्तरदायी माना गया है। वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म को नहीं वरन् कर्म को माना गया है, और इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण के जन्मजात श्रेष्ठत्व को नकारा गया है। चिन्तन और संवाद का माध्यम जनता की भाषा को बनाया गया ताकि जन सामान्य तक विचारों का सम्प्रेषण हो सके। यह श्रमण विचारधारा ब्राह्मणीय विचारधारा के समानान्तर भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही प्रवाहित रही। इसके प्रस्तोताओं को तीर्थंकर के नाम से अभिहित किया गया जो जिन, अर्हत्, केवलि और बुद्ध भी कहलाये।

तीर्थंकर महावीर

भगवान महावीर के जन्म के समय उत्तर भारत में कोसल, मगध, वत्स और अवन्ति में राजतंत्रात्मक सत्तायें संगठित हो रहीं थी परन्तु वज्जिसंघ के रूप में एक शक्तिशाली गणतंत्र भी विद्यमान था। वज्जिसंघ आठ कुलों का संघ था जिसके सभी गण-सदस्य "राजा" कहे जाते थे। इन कुलों में लिच्छवि और ज्ञातृ कुलों से महावीर का सम्बन्ध था। ज्ञातृवंश और काश्यप गोत्र के क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ तथा उनकी पत्नी त्रिशलादेवी प्रियकारिणी क्रमशः महावीर के पिता और माता थे। महावीर का जन्म वैशाली के निकट स्थित कुण्डग्राम (क्षत्रियकुण्ड) में हुआ था। तीस वर्ष की आयु में मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को ईस्वी पूर्व ५६९ में महावीर ने गृह त्याग किया। बारह वर्ष तक उन्होंने तप साधना की और ४२ वर्ष की आयु में वैशाख शुक्ल दशमी को ईस्वी पूर्व ५५७ में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। अब वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हत् परमात्मा हो गए। दिगम्बर परम्परा के अनुसार राजगृह (पंचशैलपुर) में स्थित विपुलाचल पर्वत पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को उन्होंने अपना सर्वप्रथम उपदेश लोकभाषा में देकर अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। तीस वर्ष तक उन्होंने स्थान-स्थान पर विहार कर लोगों को अपने उपदेश से लाभान्वित किया।

महावीर के उपदेशों का सार अहिंसावाद, कर्मवाद, साम्यवाद और स्याद्वाद है। इन उपदेशों के द्वारा उन्होंने करुणा, पुरुषार्थ, समानता और विवेक-जन्य सहिष्णुता को मानवीय आचरण का आधार निर्दिष्ट किया। सभी प्राणियों को आत्म-कल्याण करने का समान अवसर प्रदान करने की दृष्टि से उनकी धर्म-सभाओं को **समवसरण** कहा गया।

महावीर के प्रधान शिष्य ग्यारह गणधर थे, जिनमें प्रधान इन्द्रभूति गौतम थे। अन्य गणधरों के नाम अग्निभूति, वायुभूति, शुचिदत्त (आर्यव्यक्त), सुधर्मा, मण्डिक (मंडित), मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल, मेतार्य और प्रभास हैं। ये सभी ब्राह्मण थे और वेद शास्त्रों के प्रकाण्ड पंडित थे, परन्तु उन्होंने महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था और वे श्रमण परम्परा में दीक्षित हो गये थे। ये गणधर महावीर के मुनि संघ के नेता थे। महासती चन्दना उनके आर्यिका संघ की अध्यक्षा थीं। मगध सम्राट श्रेणिक-बिंबिसार उनके प्रमुख श्रावक थे और श्रेणिक की पत्नी साम्राज्ञी चेलना श्राविका संघ की नेत्री थीं।

महावीर के चतुर्विध संघ में साधु समुदाय में मुनि और आर्यिका तथा गृहस्थ समुदाय में श्रावक और श्राविका थे। अनुश्रुति के अनुसार उनके जीवन काल में उनके लगभग पांच लाख भक्त अनुयायी हो गये थे जो उनके द्वारा सुव्यवस्थित चतुर्विध संघ के सदस्य थे। उनमें सभी वर्गों एवं जातियों के स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे।

महावीर के निर्वाण के बाद जैन संघ का नायकत्व उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम को प्राप्त हुआ और उन्होंने महावीर के उपदेशों को श्रृंखलाबद्ध व्यवस्थित एवं वर्गीकृत किया, कहा जाता है। इन्हें महावीर स्वामी से १२ वर्ष बाद निर्वाण प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् महावीर के ही एक अन्य गणधर सुधर्माचार्य संघनायक हुए और निर्वाण प्राप्त होने तक १२ वर्ष उन्होंने नायकत्व किया। तत्पश्चात् महावीर निर्वाण संवत् २४ में सुधर्माचार्य के शिष्य जम्बूस्वामी जैन संघ के नायक हुए और उन्होंने ३८ वर्ष तक संघ का नायकत्व किया। जम्बूस्वामी ने महावीर संवत् ६२ (ईसवी पूर्व ४६५) में मोक्ष लाभ किया। महावीर की शिष्य परम्परा में जम्बूस्वामी अन्तिम केवलि थे। श्वेताम्बर परम्परा में जम्बूस्वामी को ही महावीर के उपदेशों को **आगम** रूप में संकलित करने का श्रेय दिया गया है।

जम्बूस्वामी के बाद दिगम्बर परंम्परा के अनुसार विष्णुकुमार, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ने क्रमशः संघ का नेतृत्व किया। ये पांचों श्रुतकेवली थे अर्थात् उन्हें महावीर द्वारा उपदिष्ट सम्पूर्ण श्रुत का यथावत् ज्ञान था । **भद्रबाहु** दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में अन्तिम श्रुतकेवली के रूप में मान्य हैं जबकि उनसे पहले चार श्रुतकेवलियों के नाम श्वेताम्बर परम्परा में भिन्न हैं यथा - प्रभव, स्वयंभव, यशोभद्र और सम्भूत विजय। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की देहमुक्ति दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर संवत् १६२ (ई.पू. ३६५) में तथा श्वेताम्बर

परम्परा के अनुसार महावीर संवत् १७८ (ई.पू. ३४६) में मानी जाती है। भद्रबाहु के बाद महावीर द्वारा उपदेशित **अंग-पूर्वो** का ज्ञान धीरे-धीरे विच्छिन्न होने लगा।

भगवान महावीर से प्रभावित तत्कालीन सत्ताधीशों में वज्जि संघ के अध्यक्ष राजा चेटक तथा उनका परिवार और मगध के नरेश श्रेणिक-बिंबिसार तथा उनके पुत्र मन्त्रीश्वर अभय और उत्तराधिकारी कुणिक-अजातशत्रु का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है। श्रेणिक-बिंबिसार ने अपने लगभग ५० वर्ष के सुदीर्घ राज्यकाल में मगध को एक शक्तिशाली राज्य के रूप में संगठित कर लिया था और मगध साम्राज्य की सुदृढ़ नींव जमा दी थी। कहा जाता है कि मगध की राजधानी राजगृह में महावीर का समवसरण २०० बार आया था और इन समवसरणों में श्रेणिक ने गौतम गणधर के माध्यम से भगवान से एक-एक करके ६०,००० प्रश्न किये थे और उन प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर ही विपुल जैन-साहित्य की रचना हुई।

उवासगदसाओ सुत्त (उपासकदशा सूत्र) में महावीर के दश सर्वश्रेष्ठ साक्षात् उपासकों एवं परम भक्तों का वर्णन प्राप्त होता है। ये सभी सद्गृहस्थ थे और गृहस्थावस्था में रहते हुए ही धर्म का पालन करते थे। उनके नाम हैं - आणंद, कामदेव, चुलणीपिता, सुरादेव, चुल्लसय, कुण्डकोलिय, सद्दालपुत्त, महासतय, नंदिणीपिया और लेइयापिता। इनमें से सद्दालपुत्त जाति से शूद्र और कर्म से कुम्भकार था। अन्य सभी श्रावक श्रेष्ठि वर्ग से थे। चार अन्य श्रेष्ठि पुत्रों का भी उनके परम-भक्त के रूप में विशेष उल्लेख है - राजगृह के सुदर्शन सेठ, शालिभद्र, धन्ना और जम्बूकुमार। ये जम्बूकुमार ही अन्तिम केवली थे। इन भक्तों के विषय में जो कथायें जैन साहित्य में मिलती हैं उनका उद्देश्य गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं को त्याग एवं संयम के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए प्रेरित करना रहा प्रतीत होता है।

मगध में नन्द वंश

महावीर निर्वाण संवत् ६० (ईस्वी पूर्व ४६७) में मगध में श्रेणिक-बिंबिसार के वंश का अन्त और नन्द वंश का प्रारम्भ हुआ। उसी वर्ष अवन्ती में चण्ड प्रद्योत के वंश का भी अन्त हो गया और उस राज्य का भूभाग मगध साम्राज्य में मिला लिया गया। नन्द वंश का संस्थापक नन्दीवर्धन महानन्दिन था। उसके उत्तराधिकारी महापद्म ने महावीर संवत् १०३ (ई.पू. ४२४) में राज्याधिकार प्राप्त करते ही विजय अभियान किया प्रतीत होता है और कलिंग पर विजय प्राप्त की तथा दक्षिणापथ के अन्य राज्यों के विरुद्ध भी अभियान किया। यह संघर्ष १० वर्ष तक चला। द्रविड़ देशों के संघ के

बन जाने से दक्षिण की ओर मगध साम्राज्य का प्रसार रुक गया। यह नन्द राजा कलिंग से वहां के इष्टदेव **कलिंग जिन** को अपनी राजधानी पाटलिपुत्र ले गया जहां उसने उसे एक सन्निवेश (मंदिर) में स्थापित किया था। इससे यह विदित होता है कि यह नन्द राजा विजेता और साम्राज्य निर्माता होने के साथ ही जैन धर्म का भी अनुयायी था।

जैन अनुश्रुति के अनुसार नन्दों के राज्यकाल में जैन संघ से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण घटना मगध में द्वादशवर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने की है जिसकी सूचना का पूर्वाभास पाकर तत्कालीन संघाचार्य अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु दक्षिणापथ को विहार कर गये थे। इससे यह ध्वनित होता है कि उस समय दक्षिण भारत में भी जैन धर्म के अनुयायियों की पर्याप्त संख्या रही होगी ताकि जैन साधु अपनी चर्या का सम्यक् रूप से पालन कर सकें। कहा जाता है कि उस दुर्भिक्षकाल में जैन संघ में प्रथम बार फूट के बीज पड़े। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर मागध या उत्तरी शाखा के आचार्य **स्थूलिभद्र** हुए और उनके नेतृत्व में श्वेताम्बर अनुश्रुति का पहला जैन मुनि सम्मेलन हुआ तथा परम्परागत **श्रुत आगम** की वाचना पाटलिपुत्र नगर में हुई। स्थूलिभद्र मगध के नन्द राजा के महामंत्री के पुत्र थे।

मौर्य वंश

ईस्वी पूर्व ३२४ में मगध में सत्ता परिवर्तन हुआ। नन्द वंश का उच्छेद करके **चन्द्रगुप्त मौर्य** ने मौर्य वंश का शासन स्थापित किया। उसने नंदों द्वारा संगठित साम्राज्य को पुनर्व्यवस्थित किया। ई. पू. ३२७-३२५ में मेसीडोनिया के अलेक्ज़ेन्डर (सिकन्दर) ने भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर आक्रमण किया था और व्यास नदी के पश्चिम के प्रदेश को अपने आधिपत्य में कर लिया था। इस प्रदेश में उसके उत्तराधिकारी सामन्त सेल्युकस निकेतर को ईस्वी पूर्व ३०५ में चन्द्रगुप्त मौर्य ने परास्त करके मगध साम्राज्य की सीमा का पश्मोत्तर में हेलमन्ड नदी तक विस्तार कर लिया था और वर्तमान का सम्पूर्ण पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान तथा पूर्वी ईरान का बहुभाग मगध साम्राज्य में समाहित हो गये थे। चन्द्रगुप्त के गुरु और प्रधान अमात्य **विष्णुगुप्त चाणक्य,** अपरनाम कौटिलय, थे। चाणक्य के बुद्धि-कौशल और चन्द्रगुप्त के शस्त्र-कौशल ने मौर्य साम्राज्य को एक अत्यन्त व्यवस्थित साम्राज्य सत्ता के रूप में संगठित किया। सेल्यूकस द्वारा पाटिलपुत्र की राजसभा में भेजे गए उसके यूनानी राजदूत मैगस्थनीज़ के विवरण यूनानी इतिहासकारों द्वारा सुरक्षित रखे गये हैं। ये विवरण भारत के तत्कालीन इतिहास के बहुमूल्य स्रोत-साधन बने।

स्थूलिभद्र की श्वेताम्बर आम्नाय में विशेष मान्यता है। उनका समय महावीर संवत् १७० से २१५ अर्थात् ईस्वी पूर्व ३५७ से ३१२ रहा माना जाता है। दिगम्बर परम्परा में स्थूलिभद्र का पट्टाचार्य के रूप में उल्लेख नहीं है और पाटलिपुत्र में जो वाचना हुई थी उसको भी मान्यता नहीं दी गयी है।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य के विषय में जैन साहित्य में पर्याप्त इतिवृत्त प्राप्त होता है जो अन्य ऐतिहासिक साधनों से भी अनेक अंशों में समर्थित है अथवा बाधित नहीं होता। जैन साहित्य में चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय-कुलोत्पन्न बताया गया है जब कि ब्राह्मणीय साहित्य में उसे वृशल, शूद्र तथा दासी-पुत्र कहा गया है जो कदाचित् उसके जैन धर्मानुयायी होने के कारण है।

चन्द्रगुप्त मौर्य का पुत्र **बिन्दुसार अमित्रघात** भी एक प्रतापी शासक था और बौद्ध ग्रन्थ **दिव्यावदान** में उसे "क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त" कहा गया है। उसका पुत्र **देवानांप्रिय प्रियदर्शी अशोक** था जिसका समय ई.पू. २७२ से २३६ माना जाता है। अशोक के शिलालेख और स्तम्भलेख पश्चिमोत्तर में अफ़गानिस्तान में कन्दहार के पास शार-ए-कुन में और जलालाबाद के पास पुल-ए-दारून्त में तथा पाकिस्तान में पेशावर के पास शहबाजगढ़ी और मानसेरा में तथा रावलपिण्डी के पास तक्षशिला में प्राप्त हुए हैं। उत्तर में उत्तराखण्ड में देहरादून के पास कालसी में और नेपाल में स्थित रूमिनदेई में, पूर्व में उड़ीसा में, दक्षिण में कर्णाटक प्रदेश में और पश्चिम में सौराष्ट्र में उसके शिलांकित अभिलेख मिले हैं। इन शिलालेखों के इस प्रसार से मौर्य साम्राज्य का विशाल भौगोलिक परिक्षेत्र सूचित होता है। ऐतिहासिक काल में मौर्य साम्राज्य भारत की प्रथम ज्ञात सुगठित राजनीतिक इकाई थी। इन अभिलेखों से यह भी विदित होता है कि पूरा साम्राज्य पांच प्रान्तों में विभाजित था - मगध की राजधानी पाटलिपुत्र थी जो साम्राज्य का केन्द्र थी और सम्राट वहीं से शासन संचालित करता था, उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला थी, अवन्तिरथ की राजधानी उज्जयिनी थी, दक्षिणापथ की राजधानी सुवर्णगिरि थी और कलिंग की राजधानी तोसलि थी। मगध के अतिरिक्त अन्य चारों प्रान्तों में सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में राजपुत्र नियुक्त थे। अशोक ने अपने समकालीन पश्चिमोत्तर के यूनानी नरेशों यथा सीरिया के अन्तियोक थियो, मिस्र के टालेमी फिलाडेलफस, किरीन के मगस, मक्दूनिया (मेसीडोनिया) के अन्तिगोनस और एपिरस के अलिक्सुन्दर का नामोल्लेख किया है। इससे उसका समय निर्धारण समर्थित होता है और यह भी विदित होता है कि उसके

पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा जो यूनानी शक्ति को पराभूत किया गया था उसके बाद पश्चिम की यूनानी राजसत्ताओं से मौर्य साम्राज्य का निरन्तर सम्पर्क बना रहा।

अशोक के शिलालेखों से यह विदित होता है कि उसने अपने राज्यकाल के आठवें वर्ष में कलिंग की विजय की थी और वहां के शासन को अपने महामात्र नाम के उच्चाधिकारियों द्वारा सुव्यवस्थित किया था। वास्तव में यह कलिंग प्रदेश की नई विजय नहीं थी अपितु उसे पुनः साम्राज्य में सम्मिलित करने का विजय-अभियान था क्योंकि डेढ़ शताब्दी पूर्व ही कलिंग पर विजय प्राप्त करके नन्दराजा द्वारा उसे मगध साम्राज्य का अंग बना लिया गया था। अशोक के शिलालेखों में चोल, पांड्य, केरलपुत्र, सतियपुत्र और ताम्रपर्णी को दक्षिण दिशा में साम्राज्य का पड़ोसी सूचित किया गया है जो उस तमिल-देश-संघ के सदस्य रहे प्रतीत होते हैं जिसने नन्दराजा के दक्षिण की ओर अभियान को रोक दिया था।

कलिंग-अभियान में हुए नरसंहार और विनाश से क्षुब्ध होकर अशोक ने युद्ध नीति का परित्याग कर दिया और करुणापरक बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया तथापि वह सर्वधर्म समभावी बना रहा। अशोक ने अपने अभिलेखों में ब्राह्मणों और श्रमणों का उल्लेख प्रायः किया है परन्तु अपने सप्तम स्तम्भ लेख में सभी सम्प्रदायों का उल्लेख करते हुए संघ (बौद्ध), ब्राह्मण, आजीवक और निगंठ (निर्ग्रन्थ, जैन) का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इससे यह विदित होता है कि ईस्वी पूर्व तीसरी शती में निर्ग्रन्थ जैन साधुओं, बौद्ध भिक्षुओं, ब्राह्मण पुरोहितों और आजीवक सन्यासियों को जनता में धर्म गुरुओं के रूप में बहुमान प्राप्त था।

ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य का विघटन होने लगा। पाटलिपुत्र में **दशरथ** का अधिकार हुआ जिसके शिलालेख गया के पास बराबर पहाड़ी में मिलते हैं। उनसे यह भी विदित होता है कि वह आजीवक सम्प्रदाय के प्रभाव में था। **सम्प्रति** अशोक का पौत्र और कुणाल का पुत्र था। एक दुरभिसन्धि द्वारा कुणाल को विमाता तिष्यरक्षिता ने अन्धा करवा दिया था। जब सम्राट को इसका पता चला तो उन्होंने षड्यंत्रकारियों को कठोर दण्ड दिया और कुणाल के पुत्र सम्प्रति को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। अशोक की मृत्यु के उपरान्त सम्राट सम्प्रति, उपनाम इन्द्रपालित, संगत एवं विगताशोक, ने उज्जयिनी को अपनी प्रधान राजधानी बनाया। इस प्रकार मौर्यवंश की दो शाखाएं - एक उज्जयि में और दूसरी पाटलिपुत्र (मगध) में - प्रायः एक दूसरे से स्वतंत्र, स्थापित हो ईं।

सम्प्रति के धर्मगुरु जैन संघ की मागधी शाखा के **आचार्य सुहस्ति** थे। अपने गुरु के उपदेश से सम्प्रति ने एक आदर्श जैन नरेश की भांति जीवन व्यतीत किया बताया जाता है। आचार्य सुहस्ति का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में स्थूलिभद्र के परवर्ती गुरु के रूप में आता है। जैन संघ की स्थूलिभद्र की परम्परा की शाखा ने अब मगध का परित्याग कर उज्जयिनी को अपना प्रधान केन्द्र बनाया। श्वेताम्बर परम्परा के साहित्य में सम्राट सम्प्रति के विषय में विशद विवरण मिलता है जिससे विदित होता है कि उसने जैन धर्म की प्रभावना और प्रचार के लिये प्रभूत प्रयत्न किया था। उज्जयिनी में सम्प्रति के उपरान्त उसका पुत्र **शालिशुक** सिंहासन पर बैठा। उसके राजत्वकाल में भी जैन धर्म प्रभावशाली रहा, बताया जाता है।

मौर्य साम्राज्य का विघटन

ईस्वी पूर्व तीसरी शती के अन्त में मौर्य साम्राज्य के विघटन के फलस्वरूप उसके महामात्रों ने कई प्रदेशों में अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये। नासिक के आस-पास के क्षेत्र में सिमुक ने सातवाहन राज्य की स्थापना की; कलिंग में खारवेल के पितामह ने अपने राज्य की स्थापना की; विदिशा और उज्जयिनी में पुष्यगमित्र शुंग ने अपने राज्य की स्थापना की; मथुरा, अहिच्छत्रा और कौशाम्बी में स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये जिन्होंने मगध पर भी अपना अधिकार कर लिया। पश्चिम और उत्तर के अन्य प्रदेश भी अब मगध और उज्जयिनी की सत्ता से स्वतंत्र हो चुके थे। यह विघटन का कार्य ईस्वी पूर्व २३६ में अशोक की मृत्यु के बाद ही प्रारंभ हो गया था और अगले २५-३० वर्ष में मौर्य साम्राज्य अतीत का गीत हो गया।

मौर्य साम्राज्य के विघटन के फलस्वरूप नवोदित राज्यों में **शुंगो** और **सातवाहनों** की ब्राह्मण-वैदिक धर्म के पुनरोद्धारक के रूप में ख्याति है। **कलिंग** का चेदि राजवंश जैन धर्म का अनुयायी था। मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी व मगध के राजवंशों में जैन धर्म, बौद्ध धर्म तथा अन्य श्रमण धर्मों का प्रभाव रहा।

जैन धर्म के इतिहास के सन्दर्भ में सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपलब्ध अभिलेख **कलिंगाधिपति महामेघवाहन महाराज खारवेल** का **हाथीगुम्फा शिलालेख** है जो उड़ीसा में भुवनेश्वर के पास उदयगिरि की पहाड़ी पर हाथीगुम्फा के शीर्ष पर ब्राह्मी लिपि में १७ पंक्तियों में उत्कीर्ण है। इस शिलालेख का प्रारंभ जैन नमस्कार मंत्र के दो पदों **नमो अरहंतानं नमो सवसिधानं**, से होता है जो प्रख्यापनकर्ता महाराज खारवेल को निर्विवादित रूप से जैन धर्म का अनुयायी सूचित करता है। उसने स्वयं को 'पूजानुरत उवासग'' कहा है।

यह शिलालेख खारवेल ने अपने राज्यकाल के १३वें वर्ष में महावीर संवत् के वर्ष ३५५ (अर्थात् ई.पू. १७२) में वर्ष १६५ (महावीर संवत्) से विच्छिन्न होती हुई **मुख्य ध्वनि** के शान्तिदायी द्वादश अंगों का पाठ कराने हेतु श्रमण, ज्ञानी, तपस्वी-ऋषि और संघों के नेताओं का सम्मेलन बुलाने के उपलक्ष में प्रख्यापित किया था।

इस उल्लेख से यह विदित होता है कि उस समय अवशिष्ट **द्वादशांग श्रुत** को संकलित करने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया था। खारवेल द्वारा आयोजित किये गये इस सम्मेलन का कोई उल्लेख दिगम्बर या श्वेताम्बर साहित्य में अभी दृष्टिगत नहीं हुआ है।

श्वेताम्बर परम्परा

श्वेताम्बर परम्परा में स्थूलिभद्र की शिष्य परम्परा के **वैरस्वामी** के समय महावीर सं. ६०६ (७६ या ८२ ई.) में जैन संघ अन्तिम रूप से दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। उसी परम्परा में महावीर सं. ८२७-८४० (३००-३१३ ई.) में आर्य स्कन्ददिल की अध्यक्षता में मथुरा में एक वाचना सम्मेलन हुआ, और वल्लभी में भी नागार्जुन सूरि की अध्यक्षता में एक सम्मेलन हुआ, परन्तु दोनों में मतभेद होने के कारण आगम का लिपिकरण नहीं हो सका। अन्ततः **देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण** की अध्यक्षता में महावीर सं. ६८० या ६६३ (४५३ या ४६६ ई.) में वल्लभी में की गई वाचना में श्वेताम्बर आगम को अन्तिम रूप दिया गया।

दिगम्बर परम्परा

दिगम्बर परम्परा में धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा **षट्खण्डागम** का प्रणयन ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को ७५ ईस्वी के लगभग पूर्ण किया गया माना जाता है और तभी से श्रुत पंचमी के पर्व का प्रारम्भ माना जाता है। दिगम्बर परम्परा के प्राचीन साहित्य का प्रणयन प्रायः दक्षिणात्य संघ के गुरुओं ने किया जो भद्रबाहु श्रुतकेवली की परम्परा से सम्बद्ध थे। ईस्वी पूर्व पहली शती से चौथी शती ईस्वी तक जो विख्यात ग्रन्थ-प्रणेता हुए, उनमें कुन्दकुन्द, स्वामिकुमार, शिवार्य, विमलसूरि, उमास्वामि, यतिवृषभ, स्वामी समन्तभद्र, पादलिप्त, मनदेव, कवि परमेश्वर और सिद्धसेन क्षपणक का उल्लेख किया जाना अभीष्ट है।

पुरातात्विक साक्ष्य

कुषाण-शक संवत् वर्ष ५४ (१३२ ई.) की पुस्तक-धारिणी सरस्वती की एक मूर्ति मथुरा से मिली है जो यह सूचित करती है कि उस समय तक जैनों में ग्रन्थ लेखन का प्रचलन हो गया था।

ईस्वी पूर्व दूसरी शती से चौथी शती ईस्वी तक के जो पुरावशेष मथुरा से मिले हैं, वे जैन प्रतिमा-विज्ञान के विकास के अध्ययन के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनसे यह भी विदित होता है कि उस समय जैन धर्म जनसामान्य में प्रसार प्राप्त था क्योंकि लेखों में कर्मकारों, कामगरों आदि द्वारा दान दिये जाने के प्रचुर उल्लेख हैं।

ईस्वी पूर्व प्रथम शती में भारत के पश्चिमोत्तर सीमांत पर मध्य एशिया से शकजाति ने आक्रमण किया और धीरे-धीरे पूर्व में मथुरा और दक्षिण में सौराष्ट्र और उज्जयिनी तक अपना आधिपत्य कर लिया। ईस्वी पूर्व ५७ में मालवगण ने विक्रम के नेतृत्व में शकों को उज्जयिनी से अपदस्थ कर, उस प्रदेश को पुनः स्वतंत्र किया और उस उपलक्ष में विक्रम संवत् का प्रवर्तन किया। परन्तु अगली दो शताब्दियों में नहपान और चष्टन ने पुनः शकों का वर्चस्व स्थापित कर दिया। प्रारम्भ में नर्मदा के दक्षिणवर्ती सातवाहनों ने और बाद में नाग-वकाटकों ने संघर्ष जारी रखा। ३७६ ई. के लगभग मगध के चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों की सत्ता का अन्ततः उच्छेद कर दिया।

सामयिक परिदृश्य

त्यागीवृन्द को अभिवन्दन

चित्र खूब खिंचवाने और उन्हें प्रदर्शित-प्रचारित कराने में हमारा नहीं जोड़।
कहने को हम हैं वीतरागी-तपस्वी, पर हमारा मोह नहीं है कमजोर।।

अपना जन्म दिन और दीक्षा जयन्ती जिस ठाठ से मनाते हैं हम।
सामान्य गृहस्थ बेचारे क्या मना पायेंगे वैसा, कहाँ उनमें इतना है दम।।

वे करते हैं परिवार नियोजन, और हम करते परिवार वृद्धि में विश्वास।
घटती जाती संख्या सुश्रावकों की, बढ़ती जाती बेल हमारी जहँ लौ आकाश।।

नित्य नूतन रचते परिभाषा धर्म की, और कराते अपना धुआँधार प्रचार।
जानते हैं सब जहाँ में, हम से बढ़कर नहीं ज्ञान-भण्डार।।

- रमा कान्त जैन

---

www.digambarjains.com
The Matrimonials website for Digambar Jain Samaj
For more information contact : ALOK THOLIYA
M: 09324225699, email:tholiya@yahoo.com

'मेरी भावना' लोकप्रिय क्यों ?

- जस्टिस एम. एल. जैन

[पं. जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर' (१८७७-१६६८ ई.) ने सन् १६१४ ई. में मुख्तारी छोड़ने के उपरान्त संस्कृत के विभिन्न सुभाषित ग्रन्थों से अपने मनोनुकूल सुभाषितों का चयन कर उनका सरल हिन्दी पद्य में भावानुवाद या छायानुवाद किया था और यथास्थान स्वरुचि अनुसार कुछ घटाया बढ़ाया भी। तदनन्तर उन पद्यों को इस प्रकार अनुस्यूत किया कि वह 'मेरी भावना' नामक सुमनावलि बन गई। सर्वप्रथम 'जैन हितैषी' पत्रिका के अप्रैल-मई १६१६ के संयुक्तांक में इसका प्रकाशन हुआ और यह एक कालजयी रचना सिद्ध हुई। इस कृति की पुस्तिका रूप २० लाख प्रतियां हिन्दी में छपने और इसका अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, गुंजराती, मराठी और कन्नड भाषाओं में अनुवाद होने का उल्लेख कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने 'अनेकान्त' (जनवरी १६४४) में किया था। तदनन्तर बंगला भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ और इसकी और अधिक प्रतियां प्रकाशित हुईं। सहस्रों व्यक्तियों को यह रचना कंठस्थ है और वे इसका नित्य पाठ करते हैं। यह रचना लोकप्रिय क्यों हुई, इसका एक विवेचन प्रौढ़ चिन्तक मनीषी जस्टिस एम. एल. जैन ने किया है, जो यहाँ प्रस्तुत है। - सम्पादक]

सातवीं सदी के कविवर मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र में 'प्रथमम् जिनेन्द्रम्' की स्तुति करते हुए कहा है कि हे भगवन्, आप मुनीन्द्र, परमपुरुष, अव्यय, विभु, अचिंत्य, असंख्य, आद्य, ब्रह्मा, ईश्वर, अनन्त, अनङ्गकेतु, योगीश्वर, विदितयोग, एक, अनेक, ज्ञानस्वरूप, अमल तो हैं ही; साथ ही-

बुद्धस्त्वमेव-विबुधार्चित बुद्धि बोधा
त्वं शंकरोऽसि भुवन त्रय शंकरत्वात्
धातासि धीर शिव मार्ग विधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि।।

हे भगवन्, आप बुद्ध हैं क्योंकि आप विबुधों (देवों) के द्वारा पूजित बुद्धिबोध हैं, शंकर हैं क्योंकि आप तीनों लोकों का कल्याण करते हैं, विधाता हैं क्योंकि आप धैर्यवान्

हैं तथा आपने मोक्षमार्ग की विधि का विधान किया है, आप पुरुषोत्तम हैं क्योंकि आप साक्षात् ऐसे (याने पुरुषों में उत्तम) हैं ही।

इस प्रकार जैनेतर धर्म में ईश्वर के जितने नाम हैं उन सबको जिनवर पर जैन दृष्टिकोण से घटित किया है मानतुंग ने।

इसी प्रकार जिनसेन ने नवीं सदी में **आदि पुराण** में सहस्रनामों से इन्द्र द्वारा आदिनाथ की स्तुति कराई है जिसमें भगवान आदिनाथ के वे सभी नाम भी हैं जो ब्रह्मा, विष्णु व महेश के भी हैं।

इसके बाद १२वीं सदी में जब अणहिल पाटन का सम्राट कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र को लेकर सोमनाथ (शिव) के मंदिर में पहुँचा और उसने उनसे शिव को नमस्कार करने के लिए कहा तो जैन धर्म के प्रबल प्रसारक चतुर आचार्य ने सोमनाथ की मूर्ति को नमस्कार करने के लिए दो श्लोक तत्काल रचे व पढ़े -

यत्र तत्र यथा यथा योऽसि
सोऽस्याभिधया यया तया
वीतदोष कलुषः सचेद्भवान्
एक एव भगवन्नमोस्तु ते।।
भव बीजाङ्कुर जननाः रागाद्याः
क्षयमुपागता यस्य
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा महेश्वरो
वा नमस्तस्मै।।

(प्रबंध चिन्तामणि, चतुर्थ प्रकाश)

"जैन धर्म के प्रभावक आचार्य" की लेखिका साध्वी संघमित्रा के अनुसार दूसरा श्लोक इस प्रकार था-

भव बीजाङ्कुर जननाः रागाद्याः
क्षयमुपागता यस्य
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा
हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

यदि आपने आवागमन के अंकुर को पैदा करने वाले राग-द्वेष आदि को खत्म कर दिया है तो फिर आपको ब्रह्मा, विष्णु, शिव या जिन किसी भी नाम से पुकारा जाए, मेरा नमस्कार है।

जैनदर्शन व धर्म में निष्णात मुख्तार जुगल किशोर जी ने बीसवीं सदी में **'मेरी भावना'** की शुरूआत भी यों की-

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।।
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो।।

मानतुंग, जिनसेन व हेमचन्द्र आदि के वही भाव पं. जुगल किशोर मुख्तार ने हिन्दी भाषा में इस प्रकार अनूदित व गुम्फित किए कि वे सब बस मानों मूल ही लगते हैं। मुख्तार साहब की यह खूबी अनुवाद कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। वही अनुवाद श्रेष्ठ माना जाता है जो मूल भाव व शब्दों को आत्मसात करके उसे अपनी भाषा में अभिव्यक्ति दे इस सरलता के साथ कि वह सर्वजन सुलभ हो व मूल ही लगे। खास बात यह है कि यह भक्ति भाव इस प्रार्थना को गैर सम्प्रदायवादी बनाता है और साबित करता है कि जैन धर्म सर्व धर्म, विश्व धर्म है, केवल जैनों का ही धर्म नहीं है।

भला अनन्त शक्तियोंवाली आत्मा को कोई एक नाम नहीं दिया जा सकता ? यही खूबी है मुख्तार साहब की **'मेरी भावना'** की। और भी देखिए अमितगति की भावना -

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्
माध्यस्थ भावम् विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव।।

को उन्होंने रूपान्तरित किया है-

मैत्री भाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे।
दीन-दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा-स्रोत बहे।।
दुर्जन-क्रूर-कुमार्गरतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवै।
साम्यभाव रखूं मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावै।
गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवै।
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावै।।

तथा भर्तृहरि के सुभाषित -

निंदंतु नीति निपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथात् प्रविचलंति पदं न धीराः।।

को यह रूप प्रदान किया है-

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवै या जावै।
लाखों वर्षों तक जीऊं या मृत्यु आज ही आ जावै।।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवै।
तो भी न्याय-मार्ग से मेरा कभी न पद डिगने पावै।।

अमित गति की इस भावना को -

दुःखे सुखे वैरिणी बन्धु - वर्गे योगे वियोगे भुवने वने वा।
निराकृताशेष -ममत्व - बुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ।।

स्वरूप प्रदान करते हुए मुख्तार साहब कहते हैं-

होकर सुख में मग्न न फूलै, दुख मे कभी न घबरावै।
पर्वत नदी श्मशान भयानक अटवी से नहिं भय खावै।।
रहै अडोल-अकम्प निरन्तर यह मन दृढ़तर बन जावै।
इष्टवियोग-अनिष्टयोग में सहनशीलता दिखलावै।।

इसी तरह जैन धर्म के **'णमो सव्व साहूणं'** से प्रसूत गुरुओं के स्वरूप, पंच महाव्रतों के रूप और हिंसा, कषाय आदि पर विजय पाने की भावना इस तरह व्यक्त की कि उसमें जैन धर्म की विशिष्ट परिभाषाओं की बात ही नहीं रहती, जैसे जब वे यह कहते हैं, -मैं साधुओं का अनुचर होना चाहता हूं जो निःस्वार्थ तपस्या करते हैं और निश दिन निज पर हित साधन में लगे रहते हैं, मैं किसी जीव को न सताऊं, न झूंठ बोलूं, न किसी की सम्पत्ति व वनिता पाने की इच्छा करूँ, जीवन यापन में केवल सीमित वस्तुओं से संतुष्ट रहूँ तथा क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि से दूर रहूँ। और अंत में **शान्ति पाठ** के इस पद्य को -

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः
काले काले च सम्यक् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौर-मारी क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्व-सौख्य-प्रदायि।।

इस प्रकार रूपान्तरित किया गया है -

ईति भीति व्यापे नहिं जगमें वृष्टि समय पर हुआ करै।
नीतिनिष्ठ होकर शासक भी न्याय प्रजा का किया करै।।
रोग मरी दुर्भिक्ष न फैले प्रजा शांति से जिया करै।
परम अहिंसा-धर्म जगत में फैल सर्व-हित किया करै।।

यहां पर "जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु" का अनुवाद "जैनेन्द्र धर्म चक्र जगत में फैले' न कह कर "परम अहिंसा-धर्म जगत में फैल" ऐसी कामना कर जिन धर्म को जैन मंदिरों की दीवारों से निकालकर विस्तृत आयाम ही नहीं दिया बल्कि इस प्रार्थना को सर्वव्यापी भी बना दिया। यहां यह सद्भाव प्रगट किया है कि सब लोग परस्पर प्रेम से रहें, किसी का दिल दुखाने वाली शब्दावली तक का प्रयोग न करें, लोग अपनी आत्मा को पहचानने के साथ देश की उन्नति में भी लगे रहें। स्वहित व परहित में कोई विरोध नहीं रह पाए। देश की भलाई में अपनी भलाई है अतः इसके लिए सब संकटों का मुकाबला करना चाहिए।

'मेरी भावना' अनुवाद क्षमता व काव्य-कला दोनों का बढ़िया नमूना है और यही कारण है कि वह जैन जन को ही अच्छी नहीं लगती, जैनेतर लोगों को भी प्यारी लगती है। इसमें किसी धर्म का कोई आग्रह नहीं है। अनेक धर्मों व भाषाओं वाले इस महादेश भारत की सनातन संस्कृति में सतत प्रभावशील जो सर्वसुलभ सर्वोपयोगी अन्तः प्रवाही सरिता है उसी का नमूना पेश करती है यह। यह है उनकी भावना, मेरी भावना, आपकी भावना, सबकी भावना, सारे भारत की भावना, सारे संसार की भावना। यह है ऐसा मधु जो स्वर्गीय जुगल किशोर जी ने अपने विस्तृत साहित्यिक ज्ञान में से सुन्दर-सुन्दर फूलों को चुनकर इकट्ठा किया है और यों है यह लोकप्रिय।

- बी- ३१, विजय पथ, तिलकनगर, जयपुर- ३०२००४

सूचना

प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ ४४६, कीमत रु. ३०/- और प्रवचनसार अनुशीलन भाग-२, पृष्ठ ४७५, कीमत रु. ३५/-, लेखक डॉ. हुकमचंद भारिल्ल का निःशुल्क वितरण स्व. प्रफुल्लचंद केशवलाल दोशी की स्मृति में उनकी धर्मपत्नी श्रीमती नलिनी प्रफुल्लचंद दोशी एवं उनके सुपुत्र श्री संजयभाई दोशी एवं रूपेनभाई दोशी परिवार की ओर से साधर्मी भाई-बहिनों, ब्रह्मचारियों, त्यागियों, मंदिरों, वाचनालयों हेतु किया जा रहा है। इच्छुक महानुभा निःशुल्क साहित्य वितरण विभाग, श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, यपुर ३०२०१५ (राज.) को रु. १५/- के डाक टिकिट भेजकर ३१ दिसम्बर, २० ७ तक मंगा लेवें।

परम कल्याणकारी ध्यान तेरस

– डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

मानवता को अहिंसा का पावन संदेश देकर सर्व जीवों को अभय देने वाले विश्ववंद्य भ. महावीर का परिनिर्वाण १५ अक्टूबर ई. पू. ५२७ को कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी रात्रि के अंतिम प्रहर में स्वाति नक्षत्र में हुआ था। दीपावली का पर्व उनकी स्मृति में मनाया जाता है। निर्वाण के दो दिन पूर्व त्रयोदशी को भगवान महावीर ने पावानगरी के मनोहर वन के भीतर सरोवर के बीच मणिमयी शिला पर आत्मध्यान लगाया जो परम शुक्ल ध्यान में परिणत होता हुआ परिनिर्वाण का साधक बना। अतीन्द्रिय सुख की उपलब्धि का आधारभूत कारण आत्मध्यान ही है अतः दीपावली के पूर्व तेरस के दिन को ध्यान तेरस या धन्यतेरस के नाम से मनाया जाने लगा। काल प्रवाह में आत्म विकास आत्मोत्थान का भाव तिरोहित होता गया और ध्यान या धन्य तेरस को धन-तेरस के रूप में मनाया जाने लगा। ध्यान का अलौकिक साधन लौकिक सुख का निमित्त बन गया। इच्छाओं के शमन-उपेक्षा से संबद्ध आत्म-ध्यान की शक्ति इच्छापूर्ति का साधन बन गई। वैचारिक विभ्रम के कारण मानव जगत इच्छापूर्ति की अंधी दौड़ में फंस गया।

महावीर ने कहा कि जीवात्माएं आत्म-श्रद्धान, आत्म-बोध एवं आत्म-ध्यान रूप आत्मरमण में स्थित होकर अनुपम-अतीन्द्रिय परमात्म सुख को प्राप्त कर सकती हैं। यह ध्यान धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान कहलाता है। अज्ञान के कारण जीवों ने इनका आश्रय नहीं लिया और संसार, शरीर और विषयों की पूर्ति हेतु आर्तध्यान और रौद्रध्यान के कंटकाकीर्ण मार्ग में फंस गये जिस कारण उन्हें तिर्यंच और नरक गति का दारुण दुख अनादि काल से भोगना पड़ रहा है। इन दुखों से निवृत्ति का एक मात्र मार्ग ध्यान, आत्म-ध्यान ही है। चित्तवृति को किसी अर्थ, द्रव्य-परमाणु या भाव में केंद्रित करना ध्यान है। **"ध्यानं विनिर्मलं ज्ञानं पुंसां संपद्यते स्थिरम्"** अर्थात् जब निर्मल ज्ञान स्थिर हो जाता है, तब वह ध्यान कहलाता है (**योगसार प्राभृत** ६/१२)। जिस प्रकार नमक जल में विलीन हो जाता है उसी प्रकार चित्त शुद्धात्मा में विलीन हो जावे तब जीव समरस रूप समाधिमय हो जाता है (**दोहापाहुड़** पाठ २०७)।

ध्यान की अचिंत्य शक्ति को दृष्टिगत कर ध्यान-शिविरों का आयोजन किया जाने लगा है। ध्यान की पूर्व शर्त ज्ञान-वैराग्य और समत्व भाव की भावना है। कर्त्ता, भोक्ता, एकत्व-ममत्व, स्वामित्व-अहं के शुभ-अशुभ भावों को विसर्जित कर देह में विसर्जित विदेही परमात्मा का ध्यान करना ही परम इष्ट है। इस दृष्टि से धनतेरस के मनाने का स्वरूप बदलना आवश्यक है। उसे धनतेरस के स्थान पर जीवन को धन्य स्वरूप बनाने हेतु परम कल्याणी आत्म-ध्यान तेरस के रूप में मनाना चाहिए। जब जागे तभी सबेरा।

– बी-३६६, ओ. पी. एम., अमलाई

आदिपुराण में नारी

- डॉ. जैनमती जैन

परिवार का निर्माण जिन घटकों से होना माना गया है उनमें नारी को एक प्रमुख और अनिवार्य घटक के रूप में स्वीकार किया गया है। आचार्य जिनसेन ने नारी के विविध रूपों का वर्णन **आदिपुराण** में किया है। इसके ४३वें पर्व के ११२ श्लोक में लक्ष्मी, सरस्वती, कीर्ति और मुक्ति रूप नारी को दुर्लभ बतलाया गया है। नारी का अर्थ होता है जिसका कोई शत्रु न हो। लक्ष्मी आदि नारियों के कोई शत्रु हैं, ऐसा आज तक नहीं सुना गया है। तात्पर्य यह है कि नारी त्याग, शील, सेवा भाव, सहिष्णुता, विवेक, कला और ज्ञान का भंड़ार होने के कारण परिवार में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। **आदिपुराण** का आद्योपान्त अध्ययन करने में नारी की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति की जानकारी हासिल होती है। **आदिपुराण** से ज्ञात होता है कि उस समय बहुविवाह की प्रथा थीं, लेकिन उनमें कभी कलह नहीं होता था। भ. ऋषभ देव का यशस्वती और सुनन्दा से विवाह हुआ था (दृष्टव्य १५/७०) इसी प्रकार इसी ग्रन्थ के ४७वें पर्व (श्लोक १६९-१७०) में बतलाया गया है कि श्रीपाल चक्रवर्ती का जयावती आदि चौरासी कन्याओं के साथ और वसुपाल का वारिषेणा आदि के साथ विवाह हुआ था। बहुविवाह की प्रथा होने पर भी नारी भोग्या मात्र नहीं थी। समाज में अपना उत्थान करने की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता थी। **आदिपुराण** में ऐसे अनेक प्रसंग विद्यमान हैं जिनसे ज्ञात होता है कि नारी को पति के साथ धार्मिक अनुष्ठान करने, बाग-बगीचे की सैर करने तथा अपना अभीष्ट पति चुनने का पूर्ण अधिकार था। **आदिपुराण** के ४३वें पर्व में सुलोचना के स्वयंवर के वर्णन से मेरे कथन की पुष्टि होती है। उक्त पर्व में सुलोचना स्वयंवर में अपने अभीष्ट पति को चुनती है। अतः **आदिपुराण** में नारी के सर्वाधिकार सुरक्षित होने के संकेत दिये हैं। तत्कालीन नारी की स्थिति व्यापक दृष्टि से अवगत होने के लिए उक्त ग्रन्थ में नारी के विविध रूपों का अध्ययन करना अनिवार्य है।

पुत्री :- **आदिपुराण** के रचनाकाल में कन्या और पुत्र में कोई भेद नहीं था। कन्या के जन्म से भी माता-पिता को अत्यधिक हर्ष होता था। पर्व ६/८३ में कहा भी है :

"पितरौ तां प्रपश्यन्तौ नितरां प्रीतिमापतुः।
कलामिव सुधासूतेः जनतानन्दकारिणीम्।।"

उक्त कथन से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में कन्या की स्थिति आज की अपेक्षा अच्छी थी। **आदिपुराण** से यह भी सिद्ध होता है कि उस समय पुत्र और पुत्री में कोई भेद नहीं था। दोनों को समान संस्कार दिये जाते थे। वर्तमान में कन्या के होने पर माता-पिता उदास हो जाते हैं। वे दुहिता का अर्थ दोहने वाली मानते हैं। लेकिन उस समय समाज में कन्या होना अभिशाप नहीं माना जाता था। ऋषभदेव ने राजा के रूप में अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी नामक पुत्रियों का लालन पोषण और शिक्षा-दीक्षा अपने पुत्रों के समान दी थी। वे उनके साथ क्रीड़ा भी किया करते थे।[१]

उस समय पुत्रों की तरह पुत्रियों को भी सुशिक्षित और कलाकार बनाने की प्रथा थी। भगवान ऋषभदेव ने अपनी दोनों कन्याओं ब्राह्मी और सुन्दरी को विद्या प्राप्त करने की प्रेरणा दी थी।[२] वे कहते हैं-

**"तद्विद्या ग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवाम्।
सत्संग्रहणकालोऽयं युवयोर्वर्त्ततेऽधुना।।[३]**

अर्थात् तुम दोनों विद्यार्जन करने का प्रयत्न करो, क्योंकि विद्या ग्रहण करने का तुम दोनों का यही उचित समय है। विद्यावान स्त्री भी इस लोक में सर्वोत्तम पद प्राप्त कर सकती है।[४] ऐसा कहकर भगवान आदिनाथ ने अपने पुत्रों से पहले पुत्रियों को अक्षरावली और गणितशास्त्र की शिक्षा दी थी। **आदिपुराण** में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि कन्या आत्मकल्याण और समाज सेवा करने के लिए स्वतंत्र होती थी। भ. आदिनाथ की ब्राह्मी और सुन्दरी नामक बेटियां इसकी प्रतीक हैं।[५]

आचार्य जिनसेन ने अपने **आदिपुराण** में उल्लेख किया है कि कन्या को अपने पिता की सम्पत्ति से दान करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी। उन्होंने जिनदेव की रत्नमयी अनेक प्रतिमायें और सोने के उपकरण निर्मित करवाकर दान किये थे।[६]

डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने अपनी कृति **"आदिपुराण में प्रतिपादित भारत"** में लिखा है कि कन्याएं मूर्तिकला और चित्रकला में प्रवीण होकर अपना भरण पोषण स्वयं किया करती थीं।[७]

वधु :- आदिपुराण में नारी के दूसरे रूप वधु का भी सशक्त वर्णन हुआ है। जब किसी कन्या का विवाह किसी पवित्र स्थान में सिद्ध प्रतिमा के सामने हो जाता है तो वह वधु कहलाने लगती है। विस्तार से जानकारी हेतु द्रष्टव्य है **आदिपुराण** ३८/१२७-१३४।

आदिपुराण के मतानुसार वधु में सुन्दरता, लावण्य, कला, पतिहित एवं मनोरंजन करने आदि के गुण होते हैं। उक्त आदर्श गुणों से अलंकृत कन्या वधु कही गई है। गंधिता देश के राजा अतिबल की रानी मनोहरा रानी के अंगों के संबंध में कहा गया है कि-

मनोहरांगी तस्याभूत प्रिया नाम्ना मनोहरा।
मनोभवस्य जैत्रेषुरिव या रूपशोभया।।
स्मितपुष्पोज्ज्वला भर्त्तुः प्रियासील्लतिकेव सा।
हितानुबन्धिनी जैनीविद्येव च यशस्करी।।[८]

अर्थात् वह मनोहरा नाम की रानी मनोहर अंगों वाली, अपनी रूप शोभा से कामदेव के बाण के समान थी। वह अपने पति के लिए हास्यरूपी पुष्प से शोभायमान लतिका के समान प्रिय थी और जिनवाणी की तरह कल्याण चाहने तथा यश को बढ़ाने वाली थी।

इसी प्रकार वज्रदन्त की रानी लक्ष्मीमती लक्ष्मी के समान सुन्दर थी।[६] नाभिराय की रानी मरुदेवी भी इन्द्राणी के समान रूप में लावण्यमयी, कान्तिमान्, द्युतिमान और विभूतिमान थी।[१०] भ. ऋषभदेव की दोनों वधुयें-यशस्वी और सुनन्दा सुशील, चारु लक्षणी, सती और मनोहर आकार वाली थीं।[११]

वधुओं की वेषभूषा आकर्षक होती थी। सम्पन्न घर की वधुएं मणि, माणिक्य, स्वर्ण आदि के आभूषण धारण करती थीं। वे धार्मिक अनुष्ठान, व्रत, उपवास आदि किया करती थीं। समाधि गुप्त मुनिराज की प्रेरणा से धनश्री ने जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति अर्थात् ६३ उपवास और श्रुतज्ञान अर्थात् १५८ उपवास व्रतों का पालन किया था। अतः उक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में नारियां धर्मप्रिया हुआ करती थीं। लेकिन कुछ महिलायें दुराचारी भी होती थीं। उन्हें घर से निकाल दिया जाता था। उनके भाई-बन्धु भी उन्हें घर में नहीं आने देते थे। दुराचारिणी के पुत्र को नौकर के द्वारा अन्यत्र भिजवा दिया जाता था।[१२]

आदिपुराण में बतलाया गया है कि उस समय स्त्रियां स्त्रियों की विपत्तिकाल में अवलम्बन होती थी। आलोच्य ग्रन्थ के छठवें पर्व में श्रीमती अपनी धाय पण्डित से कहती है -

"स्त्रीणां विपत्प्रतीकारे स्त्रिय एवावलम्बनम्।"[१३]

आदिपुराण में यह भी अंकित किया गया है कि श्राविकाओं को छोड़कर शेष नारियां मद्यपान भी किया करती थीं। कुछ काम को उत्तेजित करने के लिए और अन्य सौतों से ईर्ष्या के कारण मद्य पीती थी या उन्हें पिला दी जाती थी।

माता :- आदिपुराण में माता को बहुत ही सम्मानीय, परम पूज्या और स्तुत्य बतलाया गया है। भ. ऋषभदेव की मां को इन्द्राणी ने स्तुति करते हुए कल्याणकारिणी, यशस्विनी, पुण्यवती और सुमंगला कहा है।[१४]

माता को अपनी संतान तो प्रिय होती ही है लेकिन सबसे अधिक हर्ष का अनुभव उन्हें पुत्र के विवाह के समय होता है। **आदिपुराण** के ७वें पर्व (२०४-२०५) में कहा गया है कि वज्रजंघ की माता वसुन्धरा अपने बेटे के विवाह रूपी सम्पदा से इतनी हर्षित हुई कि वे अपने अंग में न समा सकी। पुत्र के विवाह रूप महोत्सव से वसुन्धरा के शरीर में उठे रोमांच हर्ष के अंकुर की भांति जान पड़ते थे।

भगवान ऋषभदेव के विवाहोत्सव से माता मरुदेवी को हुए संतोष का भी अलंकारिक वर्णन किया गया। जिस प्रकार चन्द्रकला से समुद्र बढ़ता है, उसी प्रकार विवाहोत्सव सम्पदा से मरुदेवी बढ़ने लगी थी। द्रष्टव्य १५/७३-७५।

विधवा :- आदिपुराण के ६वें सर्ग में ललितांग देव के स्वर्ग से च्युत होने पर उसकी विधवा स्वयंप्रभा देवी की स्थिति के वर्णन से ज्ञात होता है कि यद्यपि उस समय विधवायें पति के वियोग से संतप्त जरूर होती थीं लेकिन वे व्रतों का पालन करती, उपवास आदि करती हुई धार्मिक अनुष्ठानपूर्वक अपना जीवन यापन करती थीं और अंत में जिन मंदिर में पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक प्राण त्यागा करती थीं।

आदिपुराण के ४३वें पर्व के विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय विधवा की स्थिति अच्छी नहीं थी। वे अविश्वसनीय मानी जाती थीं। उन्हें कमजोर, दीन, हीन समझ कर उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता था। एक दिन जयकुमार ने वन में सर्पों का जोड़ा देखा। किसी कारण नाग मरकर नागकुमार नामक देव हुआ। दूसरे दिन उसकी नागिन को काकोदर नामक विजातीय सर्प के साथ संभोग करते देखा। जय कुमार ने उसे बहुत धिक्कारा और उसके सैनिकों ने उसे मार डाला। वह मरकर पूर्व जन्म के पति नागकुमार की देवी हुई। नागकुमार को उसने बतलाया कि जयकुमार ने उसे किस प्रकार मार डाला था। नागकुमार जयकुमार राजा को काटने महलों में गया। लेकिन वहां जयकुमार और सुलोचना की वार्ता सुनकर जयकुमार को काटने से विरत हो गया और सर्पिणी को कुटिल समझकर वापिस चला गया।

वारांगना :- वारांगना को वेश्या भी कहा जाता है, लेकिन वारांगना और वेश्या के कार्यों में भेद होने से दोनों में भेद माना गया है। आचार्य जिनसेन ने बतलाया कि वारांगना पूजा, विवाह, जन्मोत्सव आदि मांगलिक अवसरों पर नृत्य-गान किया करती थी। जब वज्रजंघ और श्रीमती का विवाहोत्सव मनाया जा रहा था, तो उस समय वारांगनायें भौहों से हाव भावपूर्वक तथा नूपुर और मेखला की मधुर ध्वनि के साथ नृत्य करती एवं मधुरगीत गा रही थीं। **आदिपुराण** के पर्व ७ में वर्णन है-

मंगलोद्गानमातेनुर्वारवध्वः कलं तदा।
उत्साहान् पेठुरभितो वन्दिनः सह मागधाः।।२४३।।
वर्द्धमानलयैर्नृत्तमारेभे ललितं तदा।
वारांगनाभिरुद्भ्रूमा रणन्नूपुर मेखलम्।।२४४।।

इसी प्रकार उक्त ग्रन्थ के १७वें पर्व में भी कहा गया कि ऋषभदेव के अभिनिष्क्रमण कल्याणोत्सव के और भरत तथा बाहुबली के राज्याभिषेक के समय उत्तम वारांगनायें मंगल द्रव्य लेकर खड़ी थीं और लीलापूर्वक पद विन्यास करती हुई नृत्य कर रही थीं।

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि वारांगना की समाज में सम्मानजनक स्थिति थी। वे नृत्य और गाने के अलावा कोई काम नहीं करती थीं।

वेश्या :- वेश्या को गणिका और सर्वभोग्या कहा जाता है। वेश्या को समाज में हीन दृष्टि से उस समय भी देखा जाता था। वेश्या मात्र भोग्या मानी जाती है। वह कामीजनों को समर्पित होकर धनार्जन और जीवन यापन करती थीं। **आदिपुराण** (४/७३) में नदी की उपमा वेश्या से देते हुए वेश्या की प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि वेश्या पाप से संलग्न, धनसंचित करने वाली, ऊपरी वेशभूषा से साफ-स्वच्छ, कुटिल वृत्ति वाली, सर्वभोग्या, विचित्र वर्णों वाली और नीच (अधम) लोगों की ओर जाने वाली तथा अलंघ्य अर्थात् कामीजनों के वशीभूत नहीं होने वाली होती है। छठवें पर्व (६/१८१) में वेश्या को वर्णसंकरता से उत्पन्न और विचित्र हाव-भाव से मनुष्यों के चित्त को हरण करने वाली कहा गया। कामीजन भी उस पर आसक्त हो कर अपना धन आदि लुटा देते थे। **आदिपुराण** के ८वें पर्व (२२५) में हस्तिनापुर के सागरदत्त और धनवती के पुत्र उग्रसेन द्वारा भंडारी को धमका कर जबरदस्ती बहुत मात्रा में घी और चावल निकाल कर वेश्याओं को देने और राज्य से दंडित होने का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार ४६वें पर्व (२७५-२७६) में भी उल्लेख हुआ है कि वेश्यागामी पुरुष ने वेश्या को खुश करने के लिए सेठ का मणियों का हार

चुरा कर दिया था। वेश्यागामी पुरुष को शूली पर चढ़ाने का भी दंड दिया जाता था। उक्त कथन से सिद्ध है कि वेश्या समाज में निन्दनीय मान जाती थी।

धाय :- धाय को धात्री, उपमाता, और सखी भी कहा गया है। जो महिला बच्चों को दूध पिलाये और उसकी देख भाल करने के लिए नियुक्त की जाती है उसे धाय कहते हैं। **आदिपुराण** में ४३वें पर्व (३३) में कहा गया है कि रानी पुत्री को उत्पन्न कर देती है लेकिन उसका पालन पोषण धाय करती है। ऋषभ देव के जन्म के अवसर पर इन्द्र ने भी देवियों को उन्हें स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, दूध पिलाने, तैल मर्दन करने, अंजन लगाने, उबटन आदि रूप संस्कार करने और खिलौने आदि से उनके साथ खेलने खिलाने के लिए धाय के रूप में नियुक्त किया था।

आदिपुराण (६वें पर्व) में धाय को एक अन्तरंग सखी और माता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पुण्डरीकिणी के राजा वज्रदन्त और रानी लक्ष्मीमती की बेटी श्रीमती को आश्वासन देने के लिए उन्होंने पण्डिता को धात्री के रूप में नियुक्त किया था। धाय चतुर और विश्वस्त, जननी और प्राण के समान होती है। वे युवतियों के रहस्य को गुप्त रख कर उनकी सहायता दूती के रूप में करती थीं। कहा भी है-

अहं पण्डितिका सत्यं पण्डिता कार्ययुक्तिषु।
जननी निर्विशेषास्मि तव प्राणसमा सखी।। ६/११७।।

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि धाय को समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

मायावी :- आचार्य जिनसेन ने **आदिपुराण** के ४७वें पर्व में नारी के वैभाविक गुण मायाचारिता को गहराई से दर्शाया है। वहां कहा गया है कि नीच कुलोत्पन्न स्त्रियां रूप परिवर्तित करने वाली विद्या जानती थीं। वे अपनी पुत्री को खुश करने के लिए अपने जमाई को कुत्ता बना देती थीं तत्पश्चात् उसे अपनी बेटी के चरणों में खूब लोटाया करती थीं। जब बेटी खूब प्रसन्न हो जाती थी, तब उसे पुनः पुराने रूप में विद्या के बल से परिवर्तित कर दिया करती थी।

स्त्रियों की मायाचारिता का पार पाना कठिन है। अतिबल नामक विद्याधर अपनी कुल्टा पत्नी को जिस अग्निकुंड में जला रहा था उसी में उसने श्रीपाल कुमार को फेंक दिया था। श्रीपाल की महौषधि की शक्ति से वह अग्नि ठंडी हो गई थी। उक्त कुल्टा उस ठंडी अग्नि में कूदकर निकल आई और बोली कि मैं अग्नि में नहीं जली। अतः मैं और मेरा पति निर्दोष था। श्रीपाल कुमार चिन्तन करते हुए कहने लगा :

अभेद्यमपि वज्रेण स्त्रीणां मायाविनिर्मितम्।
कवचं दिविजेशा च नीरन्ध्रमिति निर्भयः।।४७/११३।।

अर्थात् स्त्रियों की माया से निर्मित कवच को इन्द्र भी अपने वज्र से नष्ट नहीं कर सकते, क्योंकि वह कवच छिद्र रहित होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है **आदिपुराण** में नारी की स्थिति बहुत अच्छी थी। वे सुशील, सुन्दर, कलाकार, बुद्धिमान एवं विद्यावान होती थी। मरुदेवी, स्वयंप्रभा, श्रीमती, सुलोचना और मदनसुन्दरी लक्ष्मी, सरस्वती और कीर्ति की प्रतीक थीं। इसी प्रकार ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों मुक्ति रूप थीं।

संदर्भ-

१. **आदिपुराण** १६/ ६४-६६ २. वही, १६/ ६७ से १०१; ३. वही, १६/१०२

४. विद्यावान् पुरुषो लोके संमतिं याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम्।। वही १६/९८

५. वही, २४/१७५-१७७; ६. वही, ४२/१७३-१७५, ७. **आदिपुराण में प्रतिपादित भारत**, पृ. १७८, ८. **आदिपुराण**, ४/१३१-१३२; ९. वही, ६/५८-५९, १०. वही, १२/१२-२०; ११. वही, १५/६९-७०; १२. वही, ४७/२०८, १३. वही, ६/१६९; १४. वही, १३/३०

- श्री जैन बाला विश्राम उच्चतर विद्यालय
धनुपुरा, आगरा-८०२३०१ (बिहार)

पारस प्यारा

तुम से लागी लगन, ले लो अपनी शरण, पारस प्यारा।
मेटो मेटो जी संकट हमारा।।

निश दिन तुमको जपूं, पर से नेहा तजूं।
जीवन सारा, तेरे चरणों में बीते हमारा।। मेटो मेटो- - -
अश्वसेन के राज दुलारे, वामादेवी के सुत प्राण प्यारे।
सब से नेहा तोड़ा, जग से मुँह को मोड़ा, संयम धारा।। मेटो मेटो- -
इन्द्र और धरणेन्द्र भी आये, देवी पद्मावती मंगल गाये।
आशा पूरो सदा, दुख नहीं पावे कदा, सेवक थारा।। मेटो मेटो- -
जग के दुख की तो परवाह नहीं है, स्वर्ग-सुख की भी चाह नहीं है।
छूटे जामन मरण, होवे ऐसा जतन, तारण हारा।। मेटो मेटो- - -
लाखों बार तुम्हें शीश नवाऊं, जग के नाथ तुम्हें कैसे [illegible]ऊं।
'पंकज' व्याकुल भया, दर्शन बिन यह जिया लागे खारा।। मेटो मेटो- -

जैन और वैदिक परंपरा में वनस्पतिविचार
(इन्द्रियों के संदर्भ में)

- डॉ. कौमुदी बलदोटा

प्रस्तावना-

दैनंदिन व्यवहार में वनस्पतियों का उपयोग तथा उनसे वर्तनव्यवहार के बारे में जैन और वैदिक परंपरा में काफी अंतर दिखाई देता है। रसोई की जैन पद्धति में हरा धनिया, हरी मिर्च, हरी मीठी नीम, ताजा नारियल आदि का उपयोग बहुत कम है। सूखे मसाले ज्यादातर पसंद किये जाते हैं। धार्मिक मान्यताएं ध्यान में रखकर सब्जियां चुनी जाती हैं। आलू, रतालू आदि कंदों का इस्तेमाल निषिद्ध माना जाता है। आज की हिंदु जीवन पद्धति में आलू-रतालू आदि उपवास के दिन खासकर उपयोग में लाये जाते हैं। प्राचीन काल में अरण्यवासी ऋषि-मुनि कंदमूल, पत्ते, फल आदि का उपयोग आहार में करते थे, ऐसे संदर्भ साहित्य में उपलब्ध हैं। हिंदू पौराणिक पूजा पद्धति में ताजे फूल और पत्ते ज्यादा मायने रखते हैं। विष्णु, शिव, देवी, गणपति आदि देवताओं को विशिष्ट रंग के तथा सुगंध के फूल तथा पत्ते चढ़ाए जाते हैं। ताजा नारियल फोड़कर चढ़ाया जाता है। श्वेतांबर मंदिरमार्गीयों के सिवाय किसी भी जैन संप्रदाय की पूजा तथा आराधना पद्धति में ताजा फूल-पत्ते तथा नारियल का इस्तेमाल नहीं होता। नारियल अगर चढ़ावें तो फोड़े नहीं जाते। दिगंबर संप्रदाय में तो सूखे नारियल और सूखा मेवा (काजू, बादाम आदि) चढ़ाने का प्रावधान है। बगीचे, उद्यान आदि बनाना, पेड़ों की ऋतु के अनुसार कटाई आदि करना, बेल-तुलसी-हरी पत्ती चाय, ताजा अदरक, बकुल के फूल आदि उबालकर काढा (कषाय) बनाकर रोगों का इलाज करना आदि सैकड़ों बातें हिंदु जीवन पद्धति में बिलकुल आम हैं। तुलसी, बड़, पीपल आदि वृक्ष धार्मिक दृष्टि से पवित्र मानकर पूजे जाते हैं। जैन जीवनपद्धति में किसी भी व्रत या त्यौहारों में वृक्षों की पूजा नहीं की जाती।

विषय (व्याप्ति तथा मर्यादा)-

दोनों परंपराओं में वनस्पतियों के बारे में इतना अलग-अलग व्यवहार और मान्यताएं क्यों हैं ? तत्त्वप्रधान तथा आचारप्रधान ग्रंथों में इसका रहस्य निहित है। इस शोधनिबंध में वनस्पति की सजीवता तथा वनस्पति में इंद्रियों की उपस्थिति इन मुद्दों को ध्यान में रखकर छानबीन की गयी है। जैनियों के प्राचीन ग्रंथ प्राकृत में होने के

कारण तथा प्राकृत की विद्यार्थिनी होने के नाते मुख्यतः **आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम** और **त्रिलोकप्रज्ञप्ति, मूलाचार** एवं **गोम्मटसार (जीवकांड)** वनस्पति विवेचन के बारे में आधारभूत मानकर विश्लेषण करने का प्रयास किया है।

वैदिक परंपरा के दर्शन ग्रंथों में केवल सांख्य-दर्शन में वनस्पति विचार है। वह भी अत्यल्प मात्रा में है। **चारों वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों** में वनस्पति और औषधियों का जिक्र तो किया है लेकिन तात्त्विक विश्लेषण बहुत कम है। **उपनिषदों** में दिया हुआ सृष्टि के आविर्भाव का क्रम काफी लक्षणीय है। वनस्पति की स-इंन्द्रियता और निरिंद्रियता की चर्चा **महाभारत के शांतिपर्व** के एक संवाद में काफी हद तक की गई है। **चरकसंहिता** में वनस्पतियों का वर्गीकरण, नाम तथा गुणधर्म विस्तार से दिये हैं, औषधियां बनाने की प्रक्रियाएं भी विपुल मात्रा में दी हैं, लेकिन उनकी सजीवता, इंद्रियां होना या न होना इनका जिक्र बिलकुल ही नहीं है। **निघण्टु** तो वनस्पतिसूची है।

इस निबंध को वैज्ञानिक मूल्य प्राप्त कराने हेतु विशेष प्रयास किये हैं। वनस्पतिशास्त्र के प्राध्यापकों से इस विषय की विस्तृत चर्चा की है। बॉटनी तथा इकॉलॉजी के ग्रंथों की नामावली संदर्भग्रंथ सूची में दी है।

१. वनस्पति की उत्पत्ति-

वैदिकों ने सृष्टि की उत्पत्ति का विशिष्ट क्रम स्वीकार किया है। 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। प्रथिव्या-ओधषयः। ओषधीभ्यः अन्नं। अन्नान्पुरुषः।''[१] यह क्रम प्रायः वैज्ञानिक मान्यता से मेल खाता है। फर्क केवल इतना ही है कि आकाश की उत्पत्ति आत्मा, परमात्मा और परमेश्वर से जोड़ना विज्ञान को मंजूर नहीं। ये पाँच महाभूत हैं और वे जड़ हैं।

जैन दृष्टि से लोक जीव एवं अजीव इन दो (राशी) द्रव्यों से व्याप्त है।[२] इनमें से जीवद्रव्य के इन्द्रियानुसारी पांच भेद हैं। उनमें एकेन्द्रिय जीव पांच हैं। जैसे कि पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।[३] **सूत्रकृतांग** में कहा है कि पानी, हवा, आकाश, काल और बीज का संयोग होने पर ही वनस्पति की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं।[४] यह मत भी वैज्ञानि'; दृष्टि से उचित है। लेकिन इन सबको एकेन्द्रिय कहना और स्वतंत्र जाति मानना जै दर्शन की विशेषता है। पांचों

एकेन्द्रिय की उत्पत्ति एक दूसरे से नहीं हुई है। जगत परिवर्तनशील है और अनादि-निधन है।[५] इसका मतलब यह हुआ कि ये पांचों एकेन्द्रिय पहले से ही सृष्टि में मौजूद हैं।

२. वनस्पति की योनि (उत्पत्तिस्थान)-

दोनों परंपरायें योनिसंख्या ८४ लक्ष मानती है। इनमें वनस्पति की योनियां जैन मान्यतानुसार २४ लक्ष और वैदिक मान्यतानुसार २१ लक्ष हैं।[६] वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह संख्या वस्तुस्थिति के बहुत ही नजदीक है। वर्गीकरण के आधुनिक निकष अनुपलब्ध होने पर भी लगभग ३००० वर्ष पहले यह संख्या कथन करना एक आश्चर्यकारक बात ही है।

३. स्थान-

जैन मान्यता के अनुसार वनस्पतिसृष्टि तीनों लोकों में है।[७] **सांख्य-दर्शन** की मान्यतानुसार अधोलोक में वनस्पतिसृष्टि है।[८] लेकिन पौराणिक मान्यतानुसार वनस्पति तीनों लोकों में है। आज उपलब्ध ज्ञान के आधार पर वैज्ञानिकों ने उनका अस्तित्व केवल पृथ्वी पर ही होने के संकेत दिये हैं। क्योंकि पानी के आधार पर ही वनस्पति सृष्टि उत्पन्न होती है और पानी केवल पृथ्वी पर ही है।

दोनों परंपराओं ने वनस्पति का समावेश तिर्यंचगति[९] या तिर्यंचयोनि[१०] में किया है। और उनका स्थावरत्व[११] भी मान्य किया है।

४. वनस्पति में जीवत्व-

जैन मान्यतानुसार वनस्पति जीवद्रव्य है।[१२] वनस्पतिकायिक सुप्त चेतना वाले हैं किन्तु जागृत नहीं हैं और सुप्त जागृत भी नहीं है।[१३] स्त्यानगृद्धि निद्रा के सतत उदय से वनस्पतिकायिक जीवों की चेतना बाहरीरूप में मूर्च्छित होती है।[१४] वनस्पति का मूल जीव एक है और वह वनस्पति के पूरे शरीर में व्याप्त है लेकिन वनस्पति के सभी अवयवों में भी अलग-अलग जीवों का होना मान्य किया है।[१५]

वैदिकों के अनुसार वनस्पति सजीव सृष्टि का एक अचर प्रकार है। 'उच्चनीच' की दृष्टि से किये हुये सृष्ट पदार्थों की वर्गवारी में उन्हें प्राणियों से नीच माना है।[१६] **सांख्यकारिका** में भौतिक सर्ग का कथन करते हुए कहा है कि देवयोनि का सर्ग आठ प्रकार का है। तिर्यंच योनि का सर्ग पांच प्रकार का है अर्थात् गाय, भैंस आदि

पशु, हरिण इत्यादि मृग, पक्षी, सर्प और वृक्षादि स्थावर पदार्थ हैं। और मनुष्य सर्ग एक प्रकार का है।[१७] वैज्ञानिक दृष्टि से सृष्टिव्युत्पत्ति के क्रम में पहली सजीव-निर्मिती वनस्पति ही है। उत्क्रांति से विकसित सभी सजीव सृष्टि की वह आधारभूत संस्था है। वनस्पतियों में जो जीवशक्ति है उसके आधार पर ही क्रम से प्रगत जीवसृष्टि की निर्मिती हुई है। वनस्पतियों ने भी काल तथा परिस्थिति के अनुसार समायोजन करके खुद में परिवर्तन किये हैं। जैन दृष्टि में प्रत्येक द्रव्य, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार हमेशा परिणमित होता रहता है।[१८]

जैन मान्यतानुसार वनस्पति का मूल जीव एक है और वह वनस्पति के पूरे शरीर में व्याप्त है। अन्य ग्रंथों में यह भी कहा है कि वनस्पति के विभिन्न अवयवों में अलग-अलग विभिन्न प्रकार के जीव होते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी उत्पत्ति इस प्रकार दी जा सकती है। वनस्पति शास्त्रानुसार वनस्पति के अवयवों में भिन्न-भिन्न प्रकार की पेशियां होती हैं। लेकिन उनका डीएनए समान होता है। वृक्ष के किसी भी अवयव की पेशी का डीएनए देखकर हम पूरे वृक्ष का पता लगा सकते हैं। पेशियों का अलग-अलग अस्तित्व होकर भी उनमें जो साम्य है वह ध्यान में रखकर जैन ग्रंथों में एक मूल जीव और बाकी असंख्यात जीवों की बात कही गई होगी। अर्थात् विज्ञान ने भी संपूर्ण वनस्पतिशास्त्र में एक जीव की संकल्पना नहीं की है।

५. वनस्पति में वेद (लिंग)-

वैदिकों ने वनस्पतियों को 'उद्भिज्ज' कहा है।[१९] **कठोपनिषद** के अनुसार कुछ उच्च जाति की वनस्पतियों की जननक्रिया प्राणियों की जननक्रिया से मेल खाती है।[२०] वनस्पति के प्रजनन का विचार **मंडक, छांदोग्य** और **बृहदारण्यक** उपनिषदों में किया हुआ है। **हारित संहिता** तथा **चरकसंहिता** के अनुसार वनस्पति में लिंगभेद है तथा वंशवृद्धि के लिए नरमादासंगम आवश्यक है।[२१] सपुष्प और अपुष्प वनस्पतियों की पुनरुत्पत्ति का तरीका अलग-अलग होने का स्पष्ट संकेत इससे पाया जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह वर्णन ठीक है क्योंकि वनपतिशास्त्र के अनुसार पपीता जैसे कुछ वृक्षों में नर या मादा वृक्ष अलग-अलग भी होते हैं और वृक्ष के फूल में भी नरबीज या मादाबीज उपस्थित होते हैं। अपुष्प वनपति में पुनरुत्पत्ति के अलग-अलग प्रकार विज्ञान ने बताए हैं।

जैन मान्यतानुसार सभी वनस्पतियां सम्मूर्छिम हैं।[२२] और सभी वनस्पतियां नपुंसकवेदवाली हैं।[२३] **दशवैकालिक** में वनस्पति की पुनरुत्पत्ति के प्रकार अलग-अलग बतलाये हैं।[२४] फिर भी उन्हें सामान्य रूप से नपुंसकवेदी माना है। यह संकल्पना वैज्ञानिक दृष्टि से मेल नहीं खाती।

६. वनस्पति में इन्द्रियां :-

जैन दृष्टि से एकेन्द्रिय सृष्टि पांच प्रकार की है। पृथ्वीकायिक, तेजस्कायिक, अप्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इन पांचों को 'स्पर्शनेन्द्रिय' है। वनस्पतिजीव अन्य चार एकेन्द्रिय जीवों पर निर्भर है।[२५] जैन शब्दावली में उनको वनस्पतिकायिक जीवों का आहार कहा है।[२६]

स्पर्शनेन्द्रिय से जितना ज्ञान पा सकते हैं उतना ही ज्ञान उनमें है।[२७] जीव के एकेन्द्रिय आदि पाँच भेद किये गये हैं, सो द्रव्येन्द्रिय के आधार पर क्योंकि भावेन्द्रियां तो सभी संसारी जीवों को पांचों होती हैं।[२८] बाकी के इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होने का स्पष्ट निर्देश यहां नहीं है तथापि श्रोत्रभावेन्द्रिय होने का जिक्र कुछ अभ्यासकों ने किया है।[२९] वनस्पति के मन के बारे में जैन मान्यता यह है कि वह अमनस्क (असंज्ञी) है।[३०]

आचारांग और **सूत्रकृतांग** के पहले श्रुतस्कंध में वनस्पति की तुलना मनुष्य शरीर से, मनुष्य की शारीरिक अवस्था से और मनुष्य की मानसिक संवेदना से विस्तारपूर्वक की है।[३१] दोनों ग्रंथों में की हुई इस तुलना से यह प्रतीत होता है कि वनस्पति में पांचों इन्द्रियां होने का अनुभव उन्होंने इसमें ग्रथित किया है। पंचेन्द्रिय की तरह वनस्पति में सिर्फ 'रस' धातु के सिवाय रक्त, मांस आदि छह धातु न होने से उसकी गणना 'एकेन्द्रिय' में की है।[३२]

वैदिक साहित्य में वनस्पति की इन्द्रियों की चर्चा विस्तृत रूप से सिर्फ **महाभारत** के **शांतिपर्व** में दिखाई देती है। **महाभारत** के **शांतिपर्व** में भृगु मुनि तथा भारद्वाज के संवाद से वृक्षों के पांच भौतिक तथा इन्द्रिय सहित न होने की और होने की चर्चा विस्तार से पाई जाती है। भारद्वाज मुनि के कथन का सारांश यह है कि वृक्ष में द्रव, अग्नि, भूमि का अंश, वायु का अस्तित्व तथा आकाश नहीं है। इसलिए वे पांच भौतिक नहीं है। भृगुमुनि को यह दृष्टिकोण बिलकुल मान्य नहीं है। उन्होंने बड़े विस्तार से

वृक्षसंबंधी बातें कही हैं। "वृक्ष घनस्वरूप है यह सच है लेकिन उसमें आकाश का अस्तित्व होता भी है। उसके पुष्प और फल क्रमक्रम से दिखाई देते हैं इसलिये वे 'चेतन' भी हैं और 'पांचभौतिक' भी हैं। उष्णता से वृक्ष का वर्ण म्लान होता है। छाल सूख जाती है। फल और फूल पक्व और जीर्ण होकर गिरते हैं इसलिए उन्हें 'स्पर्शसंवेदना' है। जोर की हवा की ध्वनि से, वडवाग्नि तथा वज्रपात की ध्वनि से वृक्षों के फल और फूल गिर जाते हैं। ध्वनिसंवेदना तो श्रोत्रेन्द्रिय को होती है। इसलिए वृक्षों को 'श्रवणेन्द्रिय' है। लता वृक्ष को वेष्टित करती है, वृक्ष पर फैल जाती है। आदमी को भी अगर दृष्टि नहीं होती तो वह उचित मार्ग से जा नहीं सकता था, इसलिए वृक्ष 'देख' भी सकता है। सुगंध वा दुर्गंध से तथा धूप आदि से वृक्ष रोगरहित होते हैं और उनमें फूलफलों की बहार आ जाती है। इसलिए उन्हें 'घ्राणेन्द्रिय' भी है। वृक्ष अपने मूलों के द्वारा जल का शोषण करते हैं। वे रोगग्रस्त भी होते हैं। इतना ही नहीं, उनमें रोग के प्रतिकार का सामर्थ्य भी है। इसलिए वृक्ष को 'रसनेन्द्रिय' है। वृक्ष को सुख और दुःख की संवेदना होती है। कटा हुआ वृक्ष फिर जोर से फूटता है। इसलिए वृक्ष में 'जीव' है, वे अचेतन नहीं, 'सचेतन' ही हैं। वृक्ष में भूमि से शोषण किये हुये जल का, उष्णता और वायु की मदद से पचन होता है। यह जलाहार उसमें स्निग्धता का निर्माण करता है और उसकी वृद्धि भी करता है।"[३३]

मूल प्रकृति में अहंकार से भिन्न-भिन्न पदार्थ बनने की शक्ति प्राप्त होने पर विकास की दो शाखायें होती हैं। एक-वृक्ष, मनुष्य आदि सेंद्रिय प्राणियों की सृष्टि और दूसरी निरिंद्रिय पदार्थ की सृष्टि।[३४]

वैज्ञानिक दृष्टि से वनस्पति सजीव है। इन्द्रियधारी जीवों की तरह उनमें स्पष्ट रूप से एक भी इन्द्रिय मौजूद नहीं है। लेकिन सभी इन्द्रियों के कार्य वनस्पति अपनी त्वचा के माध्यम से ही करती है। इस दृष्टि से देखें तो उन्हें 'स्पर्शनेन्द्रिय' है ऐसा माना जा सकता है। उनको दूसरों के अस्तित्व की संवेदना त्वचा से ही होती है। रसेन्द्रिय का काम रस का ग्रहण है और वनस्पति में स्पष्ट मात्रा से मूल और उपमूलों के द्वारा होता है। फिर भी श्वासोच्छवास, अन्य निर्मिती आदि रूप से पत्ता, तना आदि भी इस रस के ग्रहण की प्रक्रिया में शामिल होते हैं। इस प्रकार यह कार्य भी त्वचा से निगडित है। उनमें गंध की संवेदना होने का प्रयोग वैज्ञानिक रूप से अभी उपलब्ध नहीं है। अस्तित्व की संवेदना तो उन्हें होती है। आसपास के सजीव, निर्जीव सृष्टि के रंगरूप की संवेदना के बारे में कहा नहीं जा सकता। लेकिन रंगरूप के विशेष ज्ञान के लिए

जो विशेष ज्ञानशक्ति आवश्यक है उस तरह का विकास उनमें नहीं है। क्योंकि उनमें संवेदना कराने वाली मज्जासंस्था या भेजा मौजूद नहीं है। सुमधुर गायन इत्यादि का अनुकूल परिणाम वनस्पतियों पर होता है। इस विषय का संशोधन किया गया है, फिर भी ध्वनि की लहरें कंपन के द्वारा उनकी त्वचा से स्पर्श करती हैं और उन्हें ध्वनिसंवेदना होती है। अलग श्रवणेन्द्रिय की कोई गुंजाईश नहीं हैं

साम्य के आधार से कहा जाय तो फूलवाली वनस्पतियों का जननेन्द्रिय 'फूल' है। श्वासोच्छ्वास का इन्द्रिय 'पत्ता' है। उत्सर्जन क्रिया हर वनस्पति में परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग होती है। वह पत्ते, तना और मूल सभी अवयवों के द्वारा होती है। जो-जो भी इन्द्रिय संवेदनायें वनस्पति में पायी जाती हैं उनके पीछे विचारशक्ति, मन अथवा मज्जासंस्था नहीं होती। वनस्पति जो-जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियायें देती हैं वे सिर्फ रासायनिक या संप्रेरकात्मक प्रक्रियायें हैं। मनुष्य में ऐच्छिक क्रियायें और प्रतिक्षिप्त क्रियायें दोनों होती हैं। ऐच्छिक क्रियाओं के लिए विचारशक्ति की आवश्यकता नहीं होती है जैसे कि किसी भी आघात से पलकों का झपकना। इस क्रिया के पीछे कोई भी विचारशक्ति नहीं है, उसी प्रकार छूई-मूई (mimosa pudica) आदि वनस्पतियों में इस प्रकार की क्रियायें प्रतिक्षिप्त क्रियायें हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में कहा है कि वनस्पतिजीव को समयादि का ज्ञान नहीं होता।[३५] आपाततः तो लगता है कि यह संकल्पना गलत है क्योंकि सूरजमुखी का सूरज की तरफ झुकना, रजनीगंधा का रात में फूलना, दिन में या रात में कमलों का विकसित होना, विशिष्ट ऋतु में वनस्पति में फूलों-फलों की बहार आना आदि घटनायें देखकर ऐसा लगता है कि समय के अनुसार वनस्पति प्रतिक्रियायें देती रहती है। लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि से ये सिर्फ रासायनिक संप्रेरकात्मक घटनायें हैं। इसमें जानबूझकर करने की कोई बात नहीं उठती। इसीलिए एक प्रकार से कहा भी जा सकता है कि उनमें समय का ज्ञान नहीं है। समयानुसारी वर्तन तो उनमें मौजूद हैं पर वह ज्ञानपूर्वक नहीं है।

वैदिक साहित्य में, काव्य, नाटक आदि में वनस्पति का ऋतु के अनुसार पुष्पित-फलित होना, कमलों के विविध प्रकार आदि के उल्लेख विपुल मात्रा में पाये जाते हैं। लेकिन दार्शनिक ग्रंथों में इसका विचार स्वतंत्ररूप से नहीं किया गया है।

वनस्पति का आहार में प्रयोग-

जैन प्राकृत ग्रंथों में वनस्पति द्वारा किया जानेवाला आहार तथा वनस्पति का अन्य जीवों द्वारा किया जानेवाला आहार इस विषय से संबंधित चर्चा विस्तार से पायी

जाती है।[३६] प्रस्तुत शोधनिबंध की मर्यादा ध्यान में रखते हुए वनस्पति के एकेन्द्रियत्व से जितनी चर्चा संबद्ध है उतनी ही यहां की है। वनस्पतिजीव एकेन्द्रिय है। फिर भी शरीरपोषण के लिए सभी शरीरधारी जीवों को वनस्पति का आहार करना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी मर्यादा के बाहर वनस्पति का उपयोग जैन दर्शन को मंजूर नहीं है। वनस्पति 'जीव' होते हुये भी उनका आहार में प्रयोग करने का कारण **सूत्रकृतांग** में बताया है कि एकेन्द्रिय जीव में केवल रस धातु की निष्पत्ति होती है। उसमें रक्त नहीं होता। रक्तधातु के बिन मांसधातु निष्पन्न नहीं होती। इसलिए मांस और अन्न की तुलना संगत नहीं है।[३७] सैद्धांतिक दृष्टि से जैन शास्त्रों में कंदमूलों को साधारण वनस्पति का दर्जा दिया है और उसका प्रत्येक जैन व्यक्ति के खानपान में निषेध भी किया है। इतना ही नहीं, दिन में जिन-जिन वनस्पतियों का प्रयोग अपने खानपान में किया है, उनकी आलोचना करने का विधान साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका के नित्य आवश्यककृत्य में बताया है।[३८] जैनियों की वनस्पति के प्रति विशेष संवेदनशीलता ही इससे प्रतीत होती है।

शाकाहार-मांसाहार दोनों के गुणधर्मों का विश्लेषण विज्ञान में करना है। वैज्ञानिक ग्रंथ बोध या उपदेश देने वाले न होने के कारण विज्ञान में किसी की सिफारिश नहीं की जाती। अलग-अलग गुणधर्म पहचान के कौनसा आहार त्याज्य है और कौनसा आहार ग्राह्य है यह सर्वथा व्यक्ति पर निर्भर है। वैज्ञानिक दृष्टि से कंदमूल, हरी सब्जी तथा अंकुरित धान्य खाने का निषेध तो है ही नहीं बल्कि उनमें प्रोटीन्स और विटॉमिन्स बहुत ज्यादा मात्रा में होने का निर्देश है। जैन शास्त्रों में जिन-जिन चीजों का आहार में निषेध किया है, वह वैज्ञानिक दृष्टि से निषिद्ध होने की संभावना नहीं है।

वैदिक ग्रंथों में देखा जाय तो **महाभारत** के **शांतिपर्व** में कहा है कि हिरन जैसे चर प्राणी तृण जैसे अचर पदार्थ खाते हैं। व्याघ्र जैसे तीक्ष्ण दाढावाले प्राणी हिरन जैसे प्राणियों को खाते हैं। विषधारी साँप निर्विष दुबले साँपों को निगलते हैं।[३९] 'बलशाली जीव निर्बल जीवों का आहार करते हैं।' इस प्रकार के उल्लेख वैदिक साहित्य में विपुल मात्रा में पाये जाते हैं जैसे कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्।' **मनुस्मृति** में भी इसका निर्देश है-[४०]

विज्ञान में प्रचलित जो अन्नश्रृंखला है उसके संकेत वैदिक साहित्य से मिलते हैं। आहार के बारे में **मनुस्मृति** कहती है कि-

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत्।
स्थावरं जंगमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम्।।[४१]

वनस्पति का औषध में प्रयोग-

चरक संहिता के आरंभ में कहा है कि आयुर्वर्धन तथा रोगनिवारण[४२] इन दोनों हेतु चरक ने विविध प्रकार के कल्प, कल्क, चूर्ण, कषाय आदि औषधप्रकारों का निर्देश किया है। औषध बनाये जाने का स्पष्ट निर्देश **चरकसंहिता** में है यथा-वनस्पति से, मेद से, वसा से, चरबी से।[४३] **चरकसंहिता** ग्रंथ के परिशिष्ट-२ में दी हुई तालिका से स्पष्ट है कि प्रस्तुत वर्गीकरण में वनस्पति द्रव्यों की ही प्रधानता है। वनस्पति के मूल, छाल, सार, गोंद, नाल (डण्ठल), स्वरस, मृदु पत्तियाँ, क्षार, दूध, फल, फूल, भस्म (राख), तैल, काँटे, पत्तियाँ, शुंग (टूसा), कन्द, प्ररोह (वटजटा) इन १८ अवयवों का प्रयोग औषधि बनाने के लिए किया जाता है।[४४] वैदिकों की जीवन जीने की दृष्टि बिलकुल अलग है। वह निवृत्तिगामी या निषेधात्मक नहीं है। सुखी, समृद्ध, निरोगी जीवन, उल्हास और उमंगपूर्वक उत्साह से जीना यह वैदिक परंपरा का विशेष पक्ष है। इसी तरह से वनस्पतियों का खुद के लिए इस्तेमाल करने में उन्हें कोई दिक्कत नहीं लगती। वैदिकों ने आयुर्वेद को पंचम वेद का दर्जा दिया है।[४५]

जैन दर्शन के अनुसार आयुष्य बढ़ाने की बात बिलकुल गलत धारणा पर आधारित है। आयुष्य की कालावधि 'आयुष्कर्म' पर निर्भर होने के कारण उसको बढ़ाने के लिए कोई प्राश या कल्प लेना उन्हें मंजूर नहीं है। दूसरी बात रही रोगनिवारण की, कर्मसिद्धांत के अनुसार रोगों की वेदनायें हमारे ही कृतकर्मों का विपाक है।[४६] उनका वेदन करने से कर्मनिर्जरा होती है। वेदना बहुत ही ज्यादा असहनीय हो तो औषधयोजना की जा सकती है। लेकिन उसके लिए वनस्पति के प्रासुक अवयव हम उपयोग में ला सकते हैं। हरेभरे जीवित वृक्ष के पत्ते, छाल, मूल आदि अवयव औषध बनाने के लिए अनुमत नहीं हैं।

उपसंहार

जैन और वैदिकों के वनस्पतिविषयक विचार तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण इन तीनों का एकत्रित विचार करके निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं :-

❖ तीनों ने वनस्पति का समावेश जीवविभाग में किया है और वनस्पति चेतना का निर्देश प्रायः 'सुप्तचेतना' इस शब्द से ही किया है।

❖ वैदिकों ने आत्मा से आरंभ करके क्रमबद्धता से वनस्पति का विकास सूचित किया है। आत्मविचार को छोड़कर अगले का क्रम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मेल खाता

है। जैन ग्रंथों में पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों का उल्लेख किया गया है। वनस्पतिकायिक के जीवत्व का आधार प्रथम चार एकेन्द्रिय जीव माने हैं। लेकिन पहले चारों की एक दूसरे से उत्पत्ति का निर्देश नहीं किया है।

❖ दोनों परंपराओं में निर्दिष्ट वनस्पतियोनि-संख्या वैज्ञानिक दृष्टि से मेल खाती है।

❖ दोनों मान्यताओं के अनुसार वनस्पतिसृष्टि तीनों लोकों में हैं। आज उपलब्ध ज्ञान के आधार पर वैज्ञानिकों ने उसका अस्तित्व केवल पृथ्वी पर ही होने के संकेत दिये हैं।

❖ जैन मान्यतानुसार वनस्पति का मूल जीव एक है और उसके विभिन्न अवयवों में अलग-अलग विभिन्न असंख्यात जीव होते हैं। वनस्पतिशास्त्र के अनुसार वनस्पति केवल विभिन्न अवयवों की पेशियों का एक दूसरे से जुड़ा हुआ संघात है। विज्ञान ने पूरे वनस्पति में व्याप्त एक जीव को मान्यता नहीं दी है। वृक्ष के किसी भी अवयव की पेशी का डीएनए देखकर हम पूरे वृक्ष का पता लगा सकते हैं। पेशियों का अलग-अलग अस्तित्व होकर भी उनमें जो साम्य है वह ध्यान में रखकर जैन ग्रंथों में एक मूल जीव और बाकी असंख्यात जीवों की बात कही गयी होगी।

❖ जैन मान्यतानुसार सभी वनस्पतियां सम्मूर्छिम हैं। इसलिए वे नपुंसकवेदी हैं। वैदिकों के अनुसार वनस्पति में लिंगभेद है तथा वंशवृद्धि के लिए नर-मादा-संगम आवश्यक है। सपुष्प और अपुष्प वनस्पतियों के प्रजनन के बारे में जो विचार वैदिकों ने किये हैं, वे प्रायः वैज्ञानिक दृष्टि से योग्य लगते हैं।

जैन शास्त्रकारों ने 'बीज' शब्द का नपुंसकलिंग तथा बीज बोने से उसकी उत्पत्ति यह ध्यान में रखकर उन्हें नपुंसकवेदी कहा होगा। मूल, स्कंध आदि से उत्पन्न होने वाली वनस्पति को देखकर उन्हें भी 'नपुंसकवेदी' कहा होगा। सपुष्प वनस्पति में होने वाली नरमादा बीजों का मिलन उन्होंने नजरअंदाज किया होगा।

❖ जैन मान्यतानुसार वनस्पतिकायिक जीव को एक ही इन्द्रिय अर्थात् 'स्पर्शन' इन्द्रिय है। अभ्यासकों के अनुसार यद्यपि उसमें स्पर्शनेन्द्रिय के अलावा और चार इन्द्रियां तथा मन प्रत्यक्षतः द्रव्य रूप से मौजूद नहीं है तथापि चार इन्द्रियां तथा मन की शक्ति उसमें भावरूप से मौजूद है।

महाभारत तथा **सांख्यकारिका** के अनुसार वनस्पति पाँचभौतिक है और उसमें पाँचों इन्द्रियां तथा मन होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्रियधारी जीवों की तरह

वनस्पति में स्पष्ट रूप से एक भी इन्द्रिय मौजूद नहीं है। लेकिन सभी इन्द्रियों के कार्य वनस्पति अपनी त्वचा के माध्यम से ही करती है। विज्ञान के अनुसार जो-जो भी इन्द्रिय संवेदनायें वनस्पति में पायी जाती हैं उनके पीछे विचारशक्ति, मन अथवा मज्जासंस्था नहीं होती। वह केवल प्रतिक्षिप्त क्रियायें होतीं हैं। वनस्पति जो-जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियायें देती है, वे सिर्फ रासायनिक या संप्रेरकात्मक प्रक्रियायें हैं। पाँच इन्द्रियधारी जीवों के साथ सपुष्प वनस्पति की तुलना की ही जाय तो हम कह सकते हैं कि फूलवाली वनस्पतियों की जननेन्द्रिय 'फूल' है। श्वासोच्छ्वास की इन्द्रिय 'पत्ता' है। उत्सर्जन क्रिया हर वनस्पति में परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग होती है। वह पत्ते, तना और मूल सभी अवयवों के द्वारा होती है।

❖ जैन ग्रंथों में वनस्पति में समयज्ञान न होने का जिक्र किया है। आपाततः यह तर्क ठीक नहीं लगता। सूरजमुखी का सूरज की तरफ झुकना आदि क्रियायें वैज्ञानिक दृष्टि से सिर्फ रासायनिक संप्रेरकात्मक घटनायें हैं। इसमें जानबूझकर करने की कोई बात नहीं उठती। इसीलिए एक प्रकार से कहा भी जा सकता है कि उनमें समय का ज्ञान नहीं है। समयानुसारी वर्तन तो उनमें मौजूद है पर वह ज्ञानपूर्वक नहीं है।

❖ जैन दृष्टि से शाकाहार ही सर्वथा योग्य आहार है। शाकाहार के अंदर भी बहुत सारी चीजों को ग्राह्य और त्याज्य माना है। साधु और श्रावक के लिए भी खानपान के अलग-अलग नियम हैं। विज्ञान ने शाकाहार-मांसाहार दोनों के गुणधर्म बतलाये हैं और उसकी ग्राह्यता और त्याज्यता व्यक्ति पर निर्भर रखी है। वैज्ञानिक दृष्टि से कंदमूल, हरी सब्जियां तथा अंकुरित धान्य खाने का निषेध तो है ही नहीं बल्कि उनमें प्रोटिन्स और विटॅमिन्स बहुत ज्यादा मात्रा में होने का निर्देश है। जैन शास्त्रों में जिन-जिन चीजों को आहार में निषेध किया है उनको विज्ञान से पुष्टि नहीं मिल सकती। वैदिक परंपरा की आहारचर्चा और आहारचर्या प्रायः वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मेल खाती है।

❖ वैदिक परंपरा में आयुर्वेद को पंचम वेद का दर्जा दिया गया है। आयुर्वर्धन तथा रोगनिवारण हेतु वनस्पतियों से विविध प्रकार की औषधियां बनाने की प्रक्रियायें उसमें वर्णित हैं। जैन दर्शन में आयुर्वर्धन आयुष्यकर्म से निगडित है तथा अगर अत्यावश्यक हो तो रोगनिवारण सिर्फ प्रासुक औषधियों से किया जाता है।

संदर्भ-

१. **तैत्तिरीय उपनिषद** २.१;

२. **भगवती शतक** २५; **उद्देशक** २, सूत्र १; **त्रिलोकप्रज्ञप्ति** १.१३३

३. **अणुयोगद्वार सूत्र** २१६ (५, ६); ४. **सूत्रकृतांग** २.३.२

५. **तत्त्वार्थसूत्र** ५.२ की टीका; ६. **भारतीय संस्कृतिकोश**

७. उत्तराध्यन ३६.१००; ८. सांख्यकारिका ५४
९. अणुयोगद्वारसूत्र २१६ (३); १०. सांख्यकारिका ५३
११. सांख्यकारिका ५३ का प्रकाश; उत्तराध्ययन ३६.३९
१२. उत्तराध्ययन ३६.६९; १३. भगवती १६.६. ३-८
१४. भगवती १९.३५ की टीका; १५. सूत्रकृतांग २.७-८; उत्तराध्ययन ३६.९३
१६. भारतीय संस्कृतिकोश; १७. सांख्यकारिका ५३
१८. तत्त्वार्थसूत्र ५.४१; १९. वैशेषिक सूत्र ४.२.५
२०. कठोपनिषद १.१.६; २१. भारतीय संस्कृतिकोश
२२. तत्त्वार्थसूत्र २.३६; २३. भगवती ७.८.२; तत्त्वार्थसूत्र २, ५०
२४. दशवैकालिक सूत्र ४.८; २५. सूत्रकृतांग २.३.२
२६. सूत्रकृतांग २.३.२-५; २७. भगवती ७.८.५
२८. विशेषावश्यक २९९९, ३००१; दर्शन और चिन्तन पृ. ३००
२९. दर्शन और चिन्तन, पृ. ३०८; ३०. तत्त्वार्थसूत्र २.११
३१. आचारांग १.१.१०४; सूत्रकृतांग २.७.८; सूत्रकृतांग टीका पृ. १५७बी. १०
३२. सूत्रकृतांग २.६.३५ का टिप्पण;
३३. महाभारत, शांतिपर्व (मोक्षधर्मपर्व) अध्याय १८४, ६-१८
३४. गीतारहस्य पृ. १०५; ३५. व्याख्याप्रज्ञप्ति ५.९.१०-१३
३६. सूत्रकृतांग, आहारपरिज्ञा अध्ययन; प्रज्ञापना ८.१; १८०७-१८, १३; भगवती ७.३.१-२
३७. सूत्रकृतांग २.६.३५ का टिप्पण; ३८. आवश्यकसूत्र ४.२५ (१)
३९. महाभारत शांतिपर्व अध्याय ८९, २१-२६; ४०. मनुस्मृति ५.२९
४१. मनुस्मृति ५.२८;
४२. अथातो दीर्घज्जीवितीय अध्यायं, चरकसंहिता सूत्र १
४३. चरकसंहिता ७३; ४४. चरकसंहिता ७३
४५. भारतीय संस्कृति कोश; ४६. तत्त्वार्थसूत्र ८.५

विज्ञान संदर्भ ग्रंथ सूची

1) Champion, Harry G. and Seth S. K.-**A revised survery of forest types of India.**
2) P. S. Verma, K. K. Agarwal- **Principles of Ecology-1992**
3) M. C. Das- **Fundamentals of Ecology.**
4) **Taxonomy of Augiosperms**- V. N. Naik.

- सन्मति-तीर्थ, फिरोदिया हॉस्टल
८४४, शिवाजी नगर बी.एम.सी.सी.रोड, पुणे-४११००४

बड़ी भयंकर भूल है

नश्वर तन को अविनश्वर तू मान रहा है बावले-
यह तो तेरा कोरा भ्रम है, बड़ी भयंकर भूल है।
बड़ी भयंकर भूल है।।
कंचन-सी इस काया पर तू फूला नहीं समा रहा।
पैर न धरती पर रखता तू इतना है इतरा रहा।
जो कुछ भी है नहीं उसी को सब कुछ तू है मानता-
यह कितना अज्ञान कि क्षणभंगुरता पर ललचा रहा।
माटी की यह देह विकृति का है प्रत्यक्ष प्रमाण जो-
आज उसी पर गर्व तुझे है - जो दुःखों का मूल है।
बड़ी भयंकर भूल है।।
स्वप्न सदृश मिथ्या-प्रतीति को तू यथार्थ है मानता।
विभ्रम की सीमा को ही तू ज्ञान-परिधि अनुमानता।
रज्जु-सपर्वत् प्रतिभासित संसृति में है आसक्त तू-
है विडम्बना घोर स्वयं को भी तू आज न जानता।
कनक-कामिनी के मोहक आकर्षण में मतिभ्रम हुआ-
इसीलिए ही शूल दिखायी देता विकसित फूल है।
बड़ी भयंकर भूल है।।
अहं-भाव में डूबे तेरे मन का चंचल रूप है।
शत संकल्प-दिकल्पों में रत तेरा असत्-स्वरूपं है।
सर्वविज्ञता के मद का तू भार वहन है कर रहा
किन्तु, वस्तुतः, तथ्य कि तू सर्वथा कूप-मण्डूक है।
चक्षुहीन के द्वारा ज्यों परिचालित कोई जीव हो
आत्मलक्ष्य से विचलित तू वैसे ही निज प्रतिकूल है।
बड़ी भयंकर भूल है।।
जाने कब से किन-किन रूपों में तू भ्रमता आ रहा।
जितना उठता ऊपर को उतना ही गिरता जा रहा।
कितनी अकृतज्ञता तेरी, कितना यह पागलपन है-
जिसने तुझको रचा उसी को विस्मृत करता जा रहा।
कण-कण में जो रमा अलक्षित शुद्ध-बुद्ध चैतन्य है-
विमुख उसी से हो जाना यह बड़ी भयंकर भूल है।
बड़ी भयंकर भूल है।।

- डॉ. गणेशदत्त सारस्वत
सारस्वत-सदन, सिविल लाइन्स, सीतापुर - २६१००१

नैतिकता की चादर !

- श्री अशोक सहजानन्द

कुछ लोग वर्तमान में जीते हैं, कुछ भविष्य में और अधिकांश अतीत में ही जीते रहते हैं। इतिहास अतीत है। इतिहास की साक्षी हर दिन काम नहीं आती। तोते की तरह इतिहास रटने से भी काम नहीं चलता। इतिहास का उपयोग ब्रेक के रूप में किया जाना चाहिए, ब्रेक का उपयोग बार-बार करने से गाड़ी कैसे बढ़ेगी ?

कुछ लोग वर्तमान में जीते हैं। वे इतिहास को नकारते हैं और कहते हैं समय तेजी से बदलता है। इतिहास की स्थितियां सदैव एक समान नहीं रहती। भविष्य का क्या पता, क्या होगा? यदि हम आज जीना नहीं जानते हैं तो हमारा कल यानी भविष्य भी खराब होगा। वर्तमान पर ही भविष्य की नींव है। वर्तमान ही भविष्य का निर्माण करता है।

कुछ लोग भविष्य की चिंता में जीते हैं। आज तो बीत रहा है, यदि उसी पल को पकड़ने के प्रयास करते रहेंगे तो कल भी हाथ नहीं आएगा। हम आज तो अच्छे हैं, कल भी अच्छे रहें, इसकी चिंता भी उतनी ही जरूरी है जितनी आज की चिंता। भविष्य के लिए कुछ बचाओ। सद्‌भाव, सद्‌विचार और सत्कार्य की पूंजी भविष्य में बहुत काम आती है।

प्रायः लोग बीते समय को याद करते रहते हैं। आज तो बुराईयां ही बुराईयां हैं। हर धर्म में बुरे कामों से दूर रहने और अच्छे काम करने की सलाह दी है। इसका अर्थ हुआ कि उस समय भी पाप मौजूद थे और मनुष्य सदैव इनसे बचने के लिए उपाय करता रहा है। एक विद्वान् विचारक का कहना है कि आप अपने भविष्य की योजनाओं को मूर्त रूप देने के लिए अतीत के अनुभवों का लाभ उठाइए। जो कुछ आप भविष्य में प्राप्त करना चाहते हैं उसे तुरन्त शुरू कर दीजिए। अपने ज्ञान, अनुभव और अर्जित योग्यता का समन्वय इस तरह कीजिए जिसमें आपकी भविष्य की योजनाएं सफल हो सकें। केवल अतीत की याद में अपने आपको न खो दें।

एक अन्य प्रबुद्ध विचारक का मत है- 'अतीत में विचरण करने से व्यक्ति भाग्यवादी हो जाता है। अतीत के सहारे हम समृद्ध नहीं हो सकते। समृद्ध होने के लिए चाहिए श्रम और संघर्ष करने की प्रवृत्ति। समृद्धि के लिए चाहिए नया आकाश, नया मार्ग, नये विचार, नये शिखर छूने की कामना, कल्पना और सपने। अतीत की

अधिक चर्चा करना और उसकी गाथाएं गाते-गाते जीवन बिता देना ठीक वैसा ही है जैसा कि कोई व्यक्ति कार तो आगे चलाये और उसकी रोशनी पीछे लगाये। इसमें दुर्घटना होना स्वाभाविक है।

अतीत-वर्तमान-भविष्य के बीच तालमेल की आवश्यकता है। इस तालमेल के लिए ट्यूनिंग की जरूरत है। जैसे सब्जी में अधिक नमक या कम नमक होने से स्वाद नहीं आता। हमारी उन्नति न होने के अनेक कारण हैं, जन्म लेने वाले हर बच्चे को अतीत की कथाओं से बचाना जरूरी है। जन्मघूटी के साथ ही उसे केवल अतीत की कथाएं सुनाई जाती हैं, जिनसे उसका कोई मतलब नहीं है। वह तो भविष्य के लिए उत्पन्न हुआ है। उसका विकास अतीत की तरह नहीं, भविष्य की आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए, क्योंकि बच्चे का अतीत कुछ नहीं होता। बूढ़े हमेशा अतीत देखते हैं क्योंकि उनका भविष्य अवरुद्ध होता है। वृद्ध मन का लक्षण है अतीत का चिंतन, बाल मन का लक्षण है भविष्य और युवा मन का लक्षण है वर्तमान।

हम नैतिक शिक्षा के नाम पर बच्चों को अतीत में हुए महापुरुषों की कथाएं सुनाते हैं। उनके चरित्र से परिचित कराते हैं। उनके कामों का आदर्श सामने रखते हैं और चाहते हैं कि बच्चे उसका अनुसरण करें। बच्चे सुन लेते हैं। गौरव-गाथाओं को सुनकर प्रसन्न हो जाते हैं। उन्हें लगता है हम कितने महान देश में पैदा हुए हैं जहाँ एक से बढ़कर एक महापुरुषों ने जन्म लिया और बच्चे जीवनभर उनकी जयन्तियां मनाते, गुणगान गाते और सुनते-सुनते बूढ़े हो जाते हैं। कुछ नटखट किस्म के बच्चे अपने पिता या बड़े भाई से, अध्यापक या उपदेशक से पूछ लेते हैं कि जो कुछ आप हमें सिखा रहे हैं या करने के लिए कह रहे हैं उसे आपने अपने जीवन में कितना उतारा है। इतिहास यह बताता है कि सिर्फ गुणगान करने वाले कभी राम नहीं बन सके। बुद्ध या महावीर के बाद कोई दूसरा बुद्ध या महावीर पैदा नहीं हुआ। इतिहास तो यही कह रहा है जो भी कोई अन्य पैदा हुआ वो अलग हुआ है। उसका नाम और काम अलग है।

यह कैसी नैतिकता है जिसका पालन उपदेशक स्वयं नहीं करता लेकिन अपनी संतान या शिष्यों से उनकी अपेक्षा करता है। शायद यही कारण है कि नैतिकता की नदी सूखती जा रही है। नैतिकता की नदी में कैसे तैरा जाता है ? यह पिता या गुरु स्वयं तैरकर सिखाएं तभी दूसरे साहस कर सकते हैं। गुरु या पिता यदि नैतिकता की नदी के किनारे बैठे रहें और संतान या शिष्य को उसमें उतरने के लिए दबाव डालें तो यह नैतिकता नहीं चलेगी।

झरनों में लोग स्वेच्छा से, स्वस्थ और प्रसन्न होने के लिए स्नान करते हैं। झरने कभी निमंत्रण पत्र नहीं भेजते, टेलीफोन भी नहीं करते, पोस्टर भी नहीं छपवाते और न अखबारों, रेडियो और टेलीविजन पर विज्ञापन देते हैं। झरनों के निमंत्रण मौन होते हैं जिन्हें वे सभी लोग सहजता से समझ लेते हैं जो झरनों के स्वभाव को जानते हैं। झरने नहीं कहते कि पानी हमेशा ऊपर से नीचे की ओर बहता हुआ आता है, बल्कि उनको देखना ही उनको समझ लेना होता है। हमें नैतिकता को अंधा कुआं नहीं बनाना है बल्कि सुखद झरना बनाना है।

नैतिकता को यदि किसी से खतरा है तो वह है हिपोक्रेसी से। धर्म का विकास नहीं हो रहा है क्योंकि धर्म के ध्वजाधारी अपनी चिंता कर रहे हैं। धर्म का बाना पहनकर, अपनी-अपनी व्याख्याओं से भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। क्रियाओं का पालन-मात्र ही धर्म नहीं है। क्रियाएं दिखाने के लिए हैं, दूसरों के लिए, प्रभाव के लिए हैं। इसीलिए तो धार्मिक क्रियाओं के पालन करने पर गाजे-बाजे के साथ जुलूस निकाले जाते हैं, सभाएं की जाती हैं, मालाएं पहनी या पहनायी जाती हैं। नैतिकता के बहाने हम सब अपनी-अपनी चिंता कर रहे हैं। यहां तक कि धर्म सभाओं में भी गुरु या उपदेशक समाज के सबसे प्रभावशाली व्यक्ति से ही पूछता है, 'आया समझ में'। हजारों अन्य उपस्थित गौण हैं। चिंता सिर्फ उसकी है जिसने उस सभा के लिए या संस्था के लिए धन दिया है। गुरु उसके गुणगान गाते हैं। सार्वजनिक रूप से तो संदेश यह पहुँच रहा है कि गुरु की कृपा पाने के लिए धन कमाओ। चाहे जैसे भी। फिर धन कमाकर गुरु का ध्यान आकर्षित करो। नैतिकता पीछे छूट गई है। धनार्जन ही मुख्य लक्ष्य रह गया है। वातावरण में जब किसी रोग का वायरस फैलता है तो सभी लोग उसके शिकार नहीं होते। जो कमजोर होते हैं, रोगाणुओं से लड़ने की जिनकी प्रतिरोधक क्षमता क्षीण हो जाती है, वे ही उसके शिकार होते हैं। यह एक सर्व स्वीकृत नियम है। आज के बदलते समाज में भी तरह-तरह के वायरस फैले हुए हैं- भ्रष्टाचार, सत्ता लोलुपता, आडम्बर-प्रदर्शन और धर्म का व्यापारीकरण। भारत में प्रचलित विविध धर्मों के (अपवाद स्वरूप कुछ धर्मों को छोड़कर) प्रायः सभी धर्मों के अनुयायी उपरोक्त वायरसों के शिकार हो अपने-अपने धर्म को अप्रासंगिक बनाने की चेष्टा में लगे हुए हैं। यों धर्म की जड़ें मजबूत होती हैं, पर कहीं न कहीं उन्हें आघात तो पहुंचता ही है।

२०वीं सदी ने २१वीं सदी को कुछ अच्छे-बुरे उपहारों के साथ सूचना क्रांति का भी एक अच्छा उपहार दिया है। लेकिन धार्मिक क्षेत्र में इसका उपयोग व्यक्तिगत प्रचार और स्वार्थसिद्धि के लिए ही अधिक हो रहा है।

महर्षि पतंजलि ने योग को चित्तवृतियों का नियंत्रण कहा है। चित्त को नियंत्रण में रखने के लिए उन्होंने जो साधन बतलाये हैं उनमें अपरिग्रह भी एक है। सांसारिक व्यक्ति का अपरिग्रही बनना जरा कठिन है, लेकिन संन्यास धारण करने वाले लोगों के लिए यह अनिवार्य माना गया है। आज भी ऐसे अनेक अपरिग्रही संत मिल जाएंगे, जो प्रचार से दूर ही नहीं, स्व-प्रचार का भी सख्ती से प्रतिरोध करते हुए आत्म-कल्याण के साथ-साथ जन कल्याण में भी लगे हुए हैं।

लेकिन दुर्भाग्य से आज वही साधु-संत समाज में प्रतिष्ठित, लोकप्रिय और समादृत हैं जो अपरिग्रही नहीं, परिग्रही हैं। ऐसे भी संत हैं जो गृहस्थ हैं और पारिवारिक मायामोह में पड़े ही नहीं हैं, पारिवारिक उत्कर्ष में भी लगे हुए हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि संत बनना भी एक पेशा बन गया है, जो भोग-विलास उपलब्ध कराने के साथ-साथ समाज में महिमामंडित भी कराता है। चरण स्पर्श के लिए आतुर भीड़ ही उनके अहं की तुष्टि करती है। ऐसे अनेक संत इसी युग में हुए हैं जो अपने पीछे एक अच्छी खासी इंडस्ट्री छोड़ गए हैं और जैसा कि हर इंडस्ट्री एवं उद्योग में होता है, इस नव-उद्योग में भी आपसी काट-छाट, गलाकाट प्रतियोगिता और पहले दर्जे का पतन दिनोंदिन बढ़ रहा है।

साधु-संत अपने आपमें उद्योग नहीं बन जाते। उन्हें भी समाज का वही वर्ग 'उद्योग' बना देता है जो धनाढ्य है, जो व्यापार करता है, कारखाने चलाता है। आज के उद्योग-व्यापार के उत्कर्ष के लिए अनिवार्य हो गए सारे हथकंडे अपनाता है। हालांकि इन हथकंडों के सूत्रपात में भी उसी की प्रमुख भूमिका रहती है। आप अनेक धर्मों के महिमामंडित साधु-संतों के पीछे ऐसे ही लोगों की जमात पाएंगे।

ऐसे लोग अपने कर्मचारियों को वाजिब तरक्की नहीं देंगे, अपने उत्पादों में मिलावट करेंगे, काले धन की समानांतर अर्थव्यवस्था चलाएंगे और साथ ही धर्म संरक्षक भी बने रहेंगे। किसी साधु विशेष के महिमामंडन में उनकी सारी ताकत लग जाएगी। पूछा जा सकता है कि इससे उन्हें क्या लाभ ? जानने वाले जानते हैं कि ऐसे लोग अष्ट बाहु यानी ऑक्टोपस की तरह होते हैं। जितना बड़ा साधु वह सत्तासीन व्यक्तियों तक पहुंचने का उतना ही प्रबल-सफल माध्यम। संत को, साधु को एक सेतु

बना दिया है, ऐसे लोगों ने। एक ऐसा सेतु जो मजबूत तो है ही, उनके अपने हेतुओं की पूर्ति में सहायक भी है। इसमें हेतु व्यक्तिगत भोग से लेकर सत्ताभोग और अपार धन एकत्रित करने की तृष्णा की पुष्टि तक हो सकते हैं।

आम आदमी नानाविध कारणों से दुःखी है। अभाव, जीवन के मानदंडों में निरंतर बढ़ती खाई, अपनी आशाओं और आकांक्षाओं पर तुषारपात की मनःस्थिति में यह धर्म की शरण में जाना चाहता है पर वहां उसे मिलता है आडम्बर, स्वार्थ-प्रेरित तामझाम। वह चमत्कृत होता है, उसका दुःखी मन संतोष पाता है। वह आत्म-विभोर हो उस गुरु की, मुनि की सर्वस्व समर्पण की मानसिकता की भूमि में पहुँच जाता है। उसके दुःख का भी शोषण हो रहा है, वह यह नहीं जानता। कुछ समय बाद जब गुरु या मुनि से उसका मोह भंग होता है तो वह धर्म से ही विमुख होने लगता है।

धर्म से विमुखता कितनी घातक होती है, यह उसे पता नहीं होता। धर्म, चाहे वह कोई हो, अपने समाज की धुरी होता है। सदियों से वह धुरी बना हुआ है। समय-समय पर उसमें विकृतियां भी आती हैं, तथापि किसी भी धर्म के मूल सिद्धांत इतने मजबूत और गहरी जड़े जमाए होते हैं कि वे इन विकृतियों के खिलाफ एक नई प्रतिक्रिया को जन्म देते हैं। यह प्रतिक्रिया धर्म को शुद्ध करती है, लेकिन कालान्तर में यह प्रतिक्रिया स्वयं उन दोषों का शिकार हो जाती है, जिनके खिलाफ उसका जन्म हुआ था। किसी भी धर्म या समाज के इतिहास पर नजर डालिए, उसमें आपको यही तथ्य नजर आएगा।

आज नैतिकता चादर का काम कर रही है। इसे ओढ़ लो और नैतिकतावादी हो जाओ। अब तो ऐसा लगने लगा है कि कुछ शब्द, कुछ अच्छे नाम सिर्फ गोल्डन फ्रेम में जड़े जाने योग्य रह गये हैं, शोभा की वस्तु, व्यवहार की नहीं।

जीवन का लक्ष्य क्या हो ? अतीत, वर्तमान या भविष्य। हर व्यक्ति का अपना संविधान है। हर व्यक्ति अपना वकील है। हर व्यक्ति स्वयं का न्यायाधीश है।

२३६ दरीबाकलां, चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

गिलास आधा भरा है, मत होइये उदास।
लाख बुरा आये समय, भले मिलेंगे पास।।

जीव दया और मीट टेक्नोलॉजी

- डॉ. शशि कान्त

जीव दया का अर्थ और उद्देश्य व्यापक है। जीवों के प्रति करुणा का भाव रखना इसमें अभिप्रेत है। सामान्य रूप से अहिंसा के रूप में इसे अभिव्यक्त किया जाता है। हिंसा का अर्थ किसी का वध करना या जीवन नष्ट करना ही नहीं है वरन् किसी प्राणी को शारीरिक व मानसिक पीड़ा या क्लेश पहुंचाना भी है। अतः जीव दया, करुणा और अहिंसा का तात्पर्य सरल भाषा में यह है कि किसी अन्य प्राणी को पीड़ा न पहुंचाई जाये। इसमें यह भी निहित है कि जिसका जो खाद्य या भोजन है उससे उसे जबरदस्ती वंचित न किया जाये।

इस जगत में जितने प्राणधारी पशु-पक्षी आदि जीव हैं - चाहे जमीन पर रहते हों, जमीन के भीतर रहते हों, पानी में रहते हों, या आकाश में विचरते हों - उनमें से अधिकतर का भोजन दूसरे प्राणी हैं। जो लोग विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों को पालते हैं वे भी इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि पालतू जन्तुओं को उनका आवश्यक भोजन उपलब्ध कराया जाये। प्राणी-उद्यानों में भी इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। प्रायः समाचरपत्रों में ऐसे दयावान लोगों के समाचार भी आते रहते हैं जो आवारा कुत्तों को उनका प्रिय मांस भोजन वितरित करते हैं।

जहां तक मनुष्य का सम्बन्ध है, किसी भी प्रकार के मांसाहार से पूर्णतः विरत लोगों की संख्या विश्व में बहुत कम है। हमारे देश में भी जहां अहिंसा और जीव दया पर विशेष आग्रह है, ऐसे लोगों की संख्या दस प्रतिशत से अधिक नहीं है। ऐसी स्थिति में यह व्यावहारिक नहीं है कि सरकारी स्तर पर मांसाहार का सर्वथा निषेध कर दिया जाये, अथवा मांस के उत्पादन और व्यवसाय को कानूनी तौर से पूरी तरह बन्द कर दिया जाये। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि मांस के उत्पादन में वध किये जाने वाले पशु-पक्षी आदि की यातना को किस प्रकार कम किया जाये और यथासंभव उस वध को यातना-शून्य कर दिया जाये। जीव दया का एक व्यावहारिक पक्ष यह भी है।

इन्दिरा गांधी नेशनल ओपेन यूनीवर्सिटी द्वारा मीट टेक्नोलॉजी - Meat Technology - मांस प्राद्योगिकी - में प्रशिक्षण हेतु एक पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया गया है। इस पाठ्यक्रम के माध्यम से मांस उत्पादन को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया जाना अभिप्रेत है ताकि मांस उत्पादन के लिए पशु-पक्षियों का वध कसाइयों के क्रूर, असभ्य

व बर्बर तरीकों से किये जाने के बजाय वैज्ञानिक तरीकों से इस प्रकार किया जाये कि वध किये जाने वाले पशु-पक्षी को कम से कम यातना हो।

जीव दया के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह अपेक्षित है कि वधशालाओं में मीट टेक्नोलॉजी में प्रशिक्षित कर्मचारी ही नियुक्त किये जायें और केवल ऐसे प्रशिक्षित लोगों को ही मांस का व्यवसाय करने का लाइसेंस दिया जाये। पशु-वध के ऐसे क्रूर तरीकों पर प्रतिबन्ध लगाया जाये जिनमें वध किये जाने वाले पशुओं को विशेष रूप से यंत्रणा दी जाती है या यातना भोगनी पड़ती है। ऐसे क्रूर तरीकों में ज़िबह या हलाल का उल्लेख किया जाना अभीष्ट है, जिसे कानूनी तरीके से प्रतिबन्धित किया जाना चाहिए और विशेष रूप से आधुनिक वधशालाओं में इसे पूर्णतः निषिद्ध कर दिया जाना चाहिए। पशुओं को दी जाने वाली यातना से सम्बन्धित यदि और भी कोई विशिष्ट क्रूर तरीके हों उनको भी वधशालाओं में निषिद्ध किया जाना चाहिए तथा बाजारों में सार्वजनिक रूप से उनके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए।

कुछ धर्मनिष्ठ मनीषियों द्वारा मीट टेक्नोलॉजी के पाठ्यक्रम का विरोध इस रूप में किया जा रहा है कि इसके द्वारा एजुकेटेड कसाई बनाकर मांसाहार को प्रोत्साहन दिया जा रहा है और इस प्रकार अहिंसा के प्रति निष्ठावान जनता की भावनायें आहत हो रही हैं। इस विषय में सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाना अभीष्ट है। जीव दया के मन्तव्य को और अहिंसा की अवधारणा को यदि व्यावहारिक रूप में कार्यान्वित करना है तो पशु-वध में निहित यातना को कम से कम करने के लिए जो वैज्ञानिक और तकनीकी उपाय किये जायें उनके प्रति तटस्थ भाव रखा जाना चाहिए। उन उपायों को और भी अधिक दयापूर्ण बनाने के तरीकों पर शोध को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए तथा अवैज्ञानिक क्रूर (ज़ालिमाना, बर्बर) तरीकों पर प्रतिबंध लगाये जाने और केवल आधुनिक तकनीक में प्रशिक्षित लोगों को ही मांस व चमड़े का उत्पादन एवं व्यवसाय करने के लिए लाइसेंस दिये जाने का प्राविधान सुनिश्चित कराया जाना चाहिए। इसका तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं है कि मांसाहार को उचित माना जाये अथवा उसका प्रचार किया जाये या उसे प्रोत्साहन दिया जाये। वास्तव में इसका आशय यथार्थ परिस्थितियों की अपेक्षा से जीव दया, करुणा और अहिंसा की भावना को सकारात्मक एवं व्यावहारिक रूप देना है।

- ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

आदि भगवान

(संत तिरुवल्लुवर के कुरल का भावानुवाद)

अक्षर मूल आकार है, सब वर्णों की खान।
सकल लोक में हैं प्रथम, पूज्य आदि भगवान।।

अर्जन उनके ज्ञान का, होगा सब निस्सार।
पद-सेवा सर्वज्ञ की, नहीं सके जो धार।।

जिनको निसि-दिन सेव्य हैं, प्रभु के पद पद्मस्थ।
जीते हैं सानंद वे, कल्पों तक स्वर्गस्थ।।

वीतराग-पद-शरण यदि, जीव गहें सुविचार।
तो जगती के दुःख का, हो जाए परिहार।।

अज्ञानज द्वय कर्म से, हो जाएं वे मुक्त।
करें भक्ति परमेश की, जो प्रशस्ति संयुक्त।।

पंच इंद्रियों के जयी, जो हैं जिन, सत्येश।
पाते उनके अनुग हैं, चिर आनंद विशेष।।

एकमात्र हैं देव वे, इष्ट परम बेजोड़।
बिना गहे पद, चित्त के, क्लेश न जाते छोड़।।

धर्म-सिंधु प्रभु चरण का, नहीं जिन्हें आधार।
संभव उनसे है नहीं, भवाब्धि करना पार।।

अष्टगुणी परमेश के, चरणों में जो लीन।
वे ही जीवित, शेष सब, जीव चेतनाहीन।।

प्रभु-पद-सेवी सब भवी, हो जाते हैं पार।
विमुख अभागे जीव ही, रहते हैं मँझधार।।

– डॉ. इंदरराज बैद
नारायणा अपार्टमेंट (ए)
नं. १४, स्ट्रीट १०, नंगनल्लूर,
चेन्नई-६०००६१

THE JAIN HOLY PLACES IN UTTAR PRADESH

- Dr. Satish Chandra Awasthi
M.A., Ph.D., Lucknow

Jainism is one of the oldest living religions of the world. It represents the Sramanic current of the Indian thought. It has a hoary tradition, dating back to the beginning of the human civilisation itself when Lord Rishabhanath, the first Tirthankara, taught the rudiments of agriculture and industry and ushered in the Age of Action.

The Jain tradition speaks of 24 Tirthankaras who proclaimed the *dharma* at different times in history. They are traditionally the ford-finders for crossing the channel of transmigration and attaining deliverance from the cycle of birth and death. The first Tirthankara of the current cycle of time was Lord Rishabhanath whose date cannot be calculated. The last Tirthankara was Lord Mahavira who lived in the 6th century B.C. and the 2500th anniversary of whose Nirvana was celebrated in 1974-75.

Five events in the life of the Tirthankaras are specially remembered. They relate to the conception, birth, renunciation, omniscience and deliverance, in the life of each Tirthankara. The places connected with any of these events are regarded as sacred and holy, and pilgrimage to these places is considered to be an act of religious merit by the devout Jains.

Uttar Pradesh can rightly claim to be the cradle of Jainism as the major events in the life of a majority of the Tirthankaras took place in this region. During the historical times the followers of Jainism have been known to have lived in the different parts of Uttar Pradesh in sufficient numbers and with sufficient influence. It is, therefore, natural that there are myriads of Jain monuments strewn all over Uttar Pradesh and many of them are included in the pilgrim's itinerary as holy places bestowing religious merit.

These holy places can be broadly classified into three categories : firstly, those associated with the life of the Tirthankaras; secondly, those associated with some oracle; and thirdly, those associated with antiquarian remains. It is not possible to give here

an exhaustive list of all these holy places, and so I would confine myself to the more important and fairly representative places of the three categories.

The place of pride is taken by Ayodhya, now suburb of Faizabad. It is revered in the Jain tradition as the Adi-tirtha and Adi-nagar being the place of conception and birth of Adinath or the first Tirthankara. Four more Tirthankaras, namely, Ajitanath (the 2nd Tirthankara), Abhinandananath (the 4th Tirthankara), Sumatinath (the 5th Tirthankara) and Anantanath (the 14thTirthankara), also hailed from the city of Ayodhya.

Not very far from Ayodhya is Ratnapuri, now Raunahi near Sohawal. Ratnapuri is reputed to be the birthplace of Dharmanath, the 15th Tirthankara.

Sravasti was the birthplace of Sambhavanath, the 3rd Tirthankara. It has been identified with Sahet-Mahet in the Bahraich district.

Pushpadant, the 9th Tirthankara, was born at Kishkindhapur which is identified with Khakhund in the Gorakhpur district.

Kampilya in the Farrukhabad district was intimately associated with the life of Vimalanath, the 13th Tirthankara.

Sankisa, also in the Farrukhabad district, was also associated with Vimalanath.

Shauripur-Bateshwar in the Agra district is reputed to be the birthplace of Neminath, the 22nd Tirthankara, a cousin of Lord Krishna of the Mahabharata fame.

Hastinapur in the Meerut district was the place of conception, birth, renunciation and omniscience of three Tirthankaras, namely, Shantinath (the 16th Tirthankara), Kunthanath (the 17th Tirthankara) and Arahanath (the 18th Tirthankara). It is specially revered as the *Dan-tirtha* or the Place of Offering because it was in this city that the First Tirthankara broke his six month old fast by accepting the offering of the sugarcane-juice from the hands of King Shreyansa, and thereafter he attained omniscience.

Varanasi, and Simhapuri and Chandravati in its neighbourhood, are also associated with the life of four Tirthankaras. Bhadaini in Varanasi is reputed to be the birthplace of Suparshvanath, the 7th Tirthankara. Bhelupur, also in Varanasi, is reputed to be the birthplace of Parshvanath, the 23rd Tirthankara, who was the son of King Ashvasena of Kashi and lived 250 years before Mahavira, in the 9th century before Christ.

Simhapuri, ancient Isipattana and modern Sarnath, is only 8 kilometres form Varanasi. It was the birthplace of Shreyansanath, the 11th Tirthankara.

Chandravati, also known as Chandrapuri and Chandramadhava, is about 15 kilometres from Varanasi. It was the birthplace of Chandraprabha, the 8th Tirthankara.

Prayag or Allahabad is associated with Rishabhanath, the 1st Tirthankara, being the place where he renounced the mundane pleasures and walked into wilderness.

Kaushambi, and Pabhosa in its neighbourhood in the Allahabad district, are associated with Padmaprabha, the 6th Tirthankara. He was born at and ruled over Kaushambi, and did penance and attained omniscience at Prabhas or Pabhosa. Kaushambi is specially revered in the Jain traditional lore as the place where Mahavira, the last Tirthankara, accepted alms from the hands of Chandana to break his long fast. Chandana was the daughter of the king of Anga but was then in captivity in this city and could offer only half-baked *urd* to the Lord who accepted it with perfect equanimity as he was full of compassion for the lowliest of the lowly. Chandana later on became the head of the female monastic order under Mahavira. Chandana's alms offering took place in 557 B.C.

Ahichchhatra, near Ramnagar in the Bareilly district, is equally adored in the Jain traditional lore as the place where Parshavanath, the 23rd Tirthankara, was persecuted by Kamatha but no harm could come to the Lord because Dharnendra and Padmavati were always prompt to undo the mischief of Kamatha. Dharnendra and Padmavati were the serpent god and goddess who attended upon the Lord as the guardian deities. They occupy a special place in the Jain Mantra-shastra and are invoked as the dispeller of evil and misery. Parshavanath also attained omniscience at Ahichchhatra.

Chaurasi, a suburb of Mathura, is also specially revered by the Jains because Jambusvamin, a disciple of Mahavira and the last of the Kevalins or Omniscients, attained Moksha or Deliverance here.

All the placs mentioned so far are called the ***Kalyanaka-Kshetras***. Temples adorn and perpetuate the holy spots. Images and footprints of the Tirthankaras and Kevalins associated with a

particular place, are necessarily enshrined there. Jain antiquities dating back to the beginning of the Christian era , and even earlier, have come to light from many of these sites. Sravasti, Ahichchhatra, Hastinapur, Pabhosa and Kaushambi may be particularly noted in this connection.

An example of a place of oracle ***(Atishaya-Kshetra)*** is the Savalia Parasnathji in the village of Balabet in the Lalitpur district. The icon of Parshavanath in black stone was once stolen and buried deep under ground. It appeared in a dream to the faithful, so it is said, who recovered and restored it in the temple.

Among the places noted for antiquarian remains may be mentioned Kahaum in the Gorakhpur district, Parasnath Kila in the Bijnore district, Deogarh in the Lalitpur district, and Mathura. The fort of Deogarh has some 50 temples which were built when the Jain iconographic concepts had been fully developed. These temples provide a rich source for the study of Jain iconography. The Kankali Tila of Mathura has yielded important archaeological remains, inculding the relics of the Ageless ***Deva-nirmita*** Stupa. This Stupa was worshipped by Kharavela, the king of Orissa, in the 3rd century B.C. as pointed out by Dr. Shashi Kant, and it continued in existence for nearly a thousand years. The tablets of homage known as the ***Ayagapatta*** and the Tirthankara images recovered from the Kankali Tila enable us to study the evolution of the Tirthankara image and to trace the development of Jain iconography. The Museums of Lucknow and Mathura have a good collection of these antiquities.

We have already noted that as many as 19 out of the 24 Tirthankaras were intimately associated with different places in Uttar Pradesh, and the last of the Kevalins also attained Moksha from this Pradesh. The cluster of temples at Deogarh and the remains from the Kankali Tila are rich mines of Jain iconographic and archaeological wealth. The Jain holy places are an important part of the Indian cultural heritage, and their numbers and variety in Uttar Pradesh is a matter of pride for us.

(भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष में आकाशवाणी लखनऊ से दिनांक २.२.१९७५ को English Talks के अंतर्गत प्रसारित वार्ता)

जीव हिंसा

–श्री अनंत महादेवन

बचपन से जो बात मेरे दिल को दुखाती रही है, वह है - इंसानों द्वारा जीवों को आहार बनाना। चिकन से भरे ट्रक देखता हूँ, तो मेरा दिल रो देता है। जिंदा मुर्गे ट्रक के दड़बों में यूं ठूंसे रहते हैं कि उन्हें ठीक से खड़े होने की जगह भी नहीं मिलती। चिकन शॉप पर मुर्गों की टांगें बांधकर उन्हें तौलने के लिये स्प्रिंग वाले तराजू से उल्टा लटकाया जाता है। उन्हें चिकन शॉप के दड़बे में बंद रक्खा जाता है, जहाँ ग्राहक के रूप में यमराज आने तक पीड़ादायक परिस्थितियों में जिन्दा रखा जाता है। फिर गर्दन पर छुरी चलती है और 'चीं' की आवाज के साथ उनका जीवन खत्म ! इसी तरह मछलियां मानव की अमानवीयता के चलते जल-जीवन से किचन की कड़ाही तक का सफ़र तय करती हैं। उन्हें खाने वाला नहीं सोचता कि पानी से निकाले जाने पर उनकी छटपटाहट में कितना असहनीय दर्द छिपा होगा। कटते हुए बकरे की आंखों में झांककर देखिए, वह किस तरह निरीहता से मिमियाता, छटपटाता और शांत हो जाता है। काश! जो लोग सुनामी में डूब गये, वे वापस आकर मछलियों को पानी से निकालने का दर्द बता पाते। काश! जो लोग बकरियों की तरह कत्ल किये गये, वे लौटकर कत्ल होने का दर्द इंसानों को बताते। सोचते-सोचते मेरा दिमाग फटने लगता है कि इंसान होकर हम इतने हैवान क्यों हैं ? कोई जीव-जन्तु हमें नुकसान पहुंचाए और उसे मारा जाये, तो किसी हद तक ठीक हैं लेकिन वे तमाम प्राणी हमें क्या नुकसान पहुंचाते हैं, जिनको हम भोजन के लिये मार देते हैं ? इंसान को यह अधिकार किसने दिया कि वह दूसरे जीवों का जीवन छीन ले ?

पशु-पक्षियों के हितों की रक्षा के लिये 'पेटा' जैसी संस्थाएं हैं। मेनका गांधी जीवों के लिये काम कर रही हैं। सितारे तरह-तरह के पोज बनाकर जीवों पर दया की सिफारिश करते हैं। लेकिन क्या इनमें से सब लोग जीवों के हितैषी हैं ? मुझे तो जानकारी है कि प्रचार के लिये ऐसी संस्थाओं से जुड़े हुए कई लोग मांसाहार के बिना तृप्ति ही नहीं कर पाते। ये संस्थाएं बहुत से लोगों के लिये राजनीतिक रोटियां सेंकने या अन्य कोई निजी स्वार्थ साधने का साधन बनी हुई हैं। जबकि आज शाकाहार अपनाना बहुत जरूरी है।

["स्वतन्त्र जैन चिन्तन", सितम्बर २००७ में पृ. १८-१६ पर प्रकाशित आलेख 'दूरगामी परिणामों पर सोचें' से साभार]

बने भगीरथ महावीर प्रभु

बने भगीरथ महावीर प्रभु जन-जन का बन गये सहारा।
मुक्ति मोक्ष की पावन गंगा को जन मानस में आन उतारा।

आत्म-चेतना की सुरगंगा कैसे उसे जगत में लाना,
दीन हीन निर्बल प्राणों में, आत्म तत्व की ज्योति जगाना,
प्रश्न यही था प्रबल वेग गंगा का धारण कौन करेगा,
चेतनता की भीषण लहरों का अवधारण कौन करेगा,
महावीर तब सम्मुख आये काम कठिन था पर स्वीकारा।
बने भगीरथ महावीर प्रभु जन-जन का बन गये सहारा। मुक्ति मोक्ष की .....

वह युग था जब कर्मकांड ने सारा धर्म निचोड़ लिया था,
आत्म चेतना आत्म तत्व को बरबस पीछे छोड़ दिया था,
हिंसामय निर्मम विधियों से पशुओं की बलि दी जाती थी,
शूद्रों का जीना दुर्लभ था उन्हें यातना दी जाती थी,
महावीर नवजीवन लाये आत्म-सुधा रस की ले धारा।
बने भगीरथ महावीर प्रभु जन-जन का बन गये सहारा। मुक्ति मोक्ष की .....

महावीर ने कहा जगत में सब को ही जीने का हक है,
यहां सभी को सुख समानता के रस को पीने का हक है,
सब में एक समान प्राण हैं कोई ऊंचा नीच नहीं है,
सभी कमल हैं जगत-सिंधु में कोई भी जन कीच नहीं है,
सब जीवों में सब प्राणों में बहती आत्म-सलिल की धारा।
बने भगीरथ महावीर प्रभु जन-जन का बन गये सहारा। मुक्ति मोक्ष की .....

अपने चेतन को विस्मृत कर लोग यहां पर हैं अकुलाते,
अपने कर्मों के अधीन ही लोग यहां सुख दुख को पाते,
कर्मों की कर सतत निर्जरा जो अपने स्वरूप को ध्याते,
वे ही मुक्ति रमा को वर कर अन्त मोक्ष पद को हैं पाते,
आत्म-मुक्ति के गहरे सागर में मिल जाती जीवन धारा।
बने भगीरथ महावीर प्रभु जन-जन का बन गये सहारा। मुक्ति मोक्ष की .....

- डॉ. महावीर प्रसाद जैन 'प्रशान्त', लखनऊ

नीम का पेड़

मैं रोज खड़ा होता हूँ
कॉलोनी के छठे मकान के आगे खड़े
नीम के पेड़ के नीचे
क्षणभर को सुस्ताता हूँ
और आगे बढ़ जाता हूँ
नीम का पेड़
जहर पीता है और स्वास्थ्य देता है
कीट-पतंगों, कीड़ों-मकोड़ों से रक्षा करता है।
जन-जन की पीड़ा को हरता है
फिर भी लोग उपेक्षा करते हैं
'करेला और नीम चढ़ा'
'नीम हकीम खतरे जान'
'नीम न मीठे होंय खाव गुड़ घी से'
'वो तो पूरा नीम है'
जैसे मुहावरों/शब्दों/कटूक्तियों
से उसका उपहास/स्वागत/अनादर करते हैं।
हममें से कुछ मेरे जैसे ऐसे ही तो हैं
जो स्वयं कष्ट सहकर
दूसरों का भला करते हैं
फिर भी
उपेक्षा के दंश को सहते हैं।
नीम कहता है
जैसे मैं धूप गर्मी सहकर
आश्रितों को सुख देता हूँ
बदले में कुछ नहीं लेता हूँ
वैसे ही तुम भी उपकार के पंथ पर बढ़ते जाना
मोक्ष पथ पर चढ़ते जाना।
शायद मेरे पांव
इसीलिए
एक क्षण को ठिठक जाते हैं।
मैं चल पड़ता हूँ
आगे की ओर
आगे की ओर !!

-डॉ. कपूरचंद जैन, खतौली
श्री कुन्दकुन्द जैन पी.जी. कालेज, खतौली-२५१२०१

पारदर्शी-कुण्डली

अधनंगा तन फुदकती, मंचों पर जब नार।
टपक 'पारदर्शी' रही, बुड्ढों की भी लार।।
बुड्ढों की भी लार, युवा सब नाचें-गाते।
धर्म के मेलों में, गीत अश्लील बजाते।।
श्याम हुए बदनाम, राम की मैली गंगा।
फिल्मी तारिकाएं, दिखाती तन अधनंगा।।

- सन्तकवि ऊँ. पारदर्शी'
२६१, उतरी आयड़, उदयपुर-३१३००१

आध्यात्मिक गीत

भले न करिये कभी कीर्तन

भले न करिये कभी कीर्तन, नहीं किसी को कभी सतायें।
पर-पीड़न हिंसा कहलाये,
सम्भव हो उसको सहलाये,
हिंसा सदा घृणा का घर है, अतः अहिंसा को अपनायें।
भले न करिये कभी कीर्तन, नहीं किसी को कभी सतायें।।१।।
दुखियों की सेवा अर्चन है,
इसमें नहीं कभी अड़चन है,
कहने से करना उत्तम है, सचमुच यही धर्म कहलाये।
भले न करिये कभी कीर्तन, नहीं किसी को कभी सतायें।।२।।
सप्त व्यसन के द्वार खोलते,
निशि-वासर श्लोक बोलते,
यह कैसा अद्भुत मिजाज है, किसको यह भीतर से भाये।
भले न करिये कभी कीर्तन, नहीं किसी को कभी सतायें।।३।।
भरिये पेट, सभी भरते हैं,
पेटी भरें, नहीं डरते हैं,
चोरी औ सीना जोरी तो, नहीं किसी को कभी सुहाये।
भले न करिये कभी कीर्तन, नहीं किसी को कभी सतायें।।४।।
कथनी-करनी इकसार बने,
ऐसा करिये, उपकार बने,
समता से समरसता आये, दुखियों पर अमृत बरसाये।
भले न करिये कभी कीर्तन, नहीं किसी को कभी सतायें।।५।।

- विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया
मंगल कलश, सर्वोदयनगर, अलीगढ़-२०२००१

'तुम से लागी लगन' के प्रणेता

"तुम से लागी लगन, ले लो अपनी शरण, पारस प्यारा। मेटो मेटो जी संकट हमारा।" तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया यह भजन बचपन से ही कर्ण-कुहरों में पड़ता रहा है । इस भजन (पृष्ठ ४० पर दृष्टव्य) की रचना फिल्म शाहजहाँ के गाने 'ग़म दिये मुस्तकिल, कितना नाजुक है दिल, यह ना जाना- - -' की धुन पर कविवर माणिकचंद पाटनी 'पंकज' ने सन् १९५० ई. में न जाने किस अंतः प्रेरणा से की थी कि वह लाखों भक्तों का कण्ठहार बन गया और आज भी उनकी जुबान पर इठलाता रहता है।

साढ़े पाँच फुट कद-काठी वाले, गेहूँआ वर्ण, श्वेत कुर्ता-पाजामा और काली टोपी पहनने वाले माणिकचन्द जी सामान्य व्यक्तित्व के धनी थे। किन्तु उक्त बाह्य परिवेश के भीतर जन-कल्याण से ओतप्रोत उनका विराट हृदय छिपा था, जिससे प्रसूत उनकी रचनाएं जन-मंगल व विश्व-कल्याणी भाव-धाराएं प्रवाहित करती रहती थीं।

उनका जन्म सन् १९१० ई. में अजमेर में हुआ था। उनके पिताजी का नाम भँवरलाल और माताजी का बसंतीबाई था। वह दिगम्बर जैन खण्डेलवाल जातीय, पाटनी गोत्रीय थे। बाल्यावस्था से ही उनकी कविता और शेरो-शायरी में रुचि रही। अकबर इलाहाबादी, बिस्मिल, दाग, जफर, मीर बेढव आदि उर्दू शायरों से वह प्रभावित रहे। श्वेताम्बर मुनि श्री चौथमल जी से उन्हें लिखने की प्रेरणा मिली और शायर उमरावमल पाटोदी 'बेदिल' को गुरु बनाकर उनके मार्गदर्शन में लिखना प्रारम्भ किया। अप्रैल १९४१ ई. में उनकी प्रारंभिक रचनाएं 'वीर संगीत पुष्पांजलि' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। उनमें 'दुख मेटो वीर हमारे, हम आये द्वार तुम्हारे' भजन बहुत लोकप्रिय हुआ।

कविवर पंकज अजमेर में राजश्री पिक्चर्स और प्रेम फिल्म्स आदि फिल्म संस्थानों के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते थे। अतः उन पर फिल्मी गानों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उन्होंने लोकप्रिय फिल्मी धुनों पर भक्ति रस में सराबोर भजनों की रचना कर संगीत के माध्यम से धर्म-साधना का पथ-प्रशस्त किया। अजमेर के श्री दिगम्बर जैन संगीत मण्डल से उनका अभिन्न सम्बन्ध रहा और उस मंडली के गायकों/कलाकारों ने पंकज जी के भजनों को देश के कोने-कोने में गा-गाकर लोकप्रिय कर दिया। सन् १९६० ई. में उनके भजनों का एक संग्रह 'वंदना' नाम से प्रकाशित हुआ।

कवि पंकज के भजनों और ग़ज़लों में जहाँ जिनेन्द्र प्रभु का गुण-स्तवन है, अंतर की जाज्वल्यमान भावनाएं हैं, वहीं अनेक अन्तर्कथाओं का समावेश होने से भगवान के तरण-तारण, संकट-हरण, दुख-मोचन विरद की महिमा का भी उल्लेख है।

''जग के दुख की तो परवाह नहीं है, स्वर्ग-सुख की भी चाह नहीं है। छूटे जामन मरण, होवे ऐसा जतन' पंक्तियों द्वारा भक्त कवि पंकज ने पारस प्रभु से लौकिक सुख-दुखों से परे अलौकिक आत्मानन्द की प्राप्ति की कामना की है और इस प्रकार सच्चे उपासक का रूप प्रदर्शित किया है।

अजमेर में ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह के निकट रहने वाले और उर्दू शायरों से प्रभावित कवि पंकज की रचनाओं में उर्दू शब्दों का प्रयोग होना स्वाभाविक ही है।

यद्यपि कवि पंकज ने १८ दिसम्बर, १९९६ ई. को ८६ वर्ष की वय में नश्वर देह का त्याग कर दिया था, उनकी यशकाया आज भी अमर है। आगामी १८ दिसम्बर को ग्यारहवीं पुण्यतिथि पर उन्हें हमारा भी सादर नमन है।

- रमा कान्त जैन

मुक्तक

व्यक्ति आगे आज बढ़ता जा रहा ।
ज्ञान के सोपान चढ़ता जा रहा ।।
किसलिये मस्तक न झुकता बाप को,
कौन से ये ग्रंथ पढ़ता जा रहा ।।१।।

पेड़ पौधे काटकर सड़कें बनीं ।
व्योम-पथ पर मंज़िलें ऊँची तनीं ।।
बढ़ गया क्योंकर प्रदूषण व्योम में,
बह रही सरितायें क्यों कचरा सनीं ।।२।।

क्यों प्रकृति से दूर होते जा रहे !
मद्यपी मग़रूर होते जा रहे ।।
आदमी से तुम बने इन्सान थे,
आज क्योंकर क्रूर होते जा रहे ।।३।।

अब न पोखर में कहीं पानी बचा ।
इक नया संसार है तुमने रचा ।।
किन्तु खाकर 'मीट' मछली जानवर,
तुम बने रोगी, न पाये हो पचा ।।४।।

कर्म में विश्वास जो करते रहे ।
पाप हिंसा वृत्ति से डरते रहे ।।
वे भले दौलत न संचित कर सके,
पुण्य-घट वे ही सदा भरते रहे ।।५।।

- डॉ. परमानन्द जड़िया
१८९/५१, खत्री टोला,
मशकगंज, लखनऊ-१८

साहित्य-सत्कार

(१) **सत्यनिष्ठ विचारयोगी :** संकलन-सम्पादन - श्रीमती तारा चन्द्रशेखर धर्माधिकारी; हिन्दी अनुवाद - जमनालाल जैन; सम्पादक - राम प्रवेश शास्त्री; प्रकाशक - सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी २२१००१; जून २००७; पृष्ठ ३४४; मूल्य रु. ८०/-

आचार्य दादा धर्माधिकारी का पूरा नाम श्री शंकर त्रयम्बक धर्माधिकारी था। १८ जून, १८९९ ई. को मध्य प्रदेश के मूलताई नामक स्थान पर उनका जन्म हुआ था और १ दिसम्बर, १९८५ ई. को सेवाग्राम, वर्धा, में उनकी मृत्यु हुई। वह महात्मा गांधी के अनन्य भक्त और गांधी दर्शन के विशिष्ट व्याख्याता थे। १९९९ ई. में उनकी जन्मशती पर उनकी पुत्रवधु श्रीमती तारा धर्माधिकारी ने मराठी भाषा में **विचारयोगी** नामक ग्रन्थ का संपादन व प्रकाशन किया था। उनके सुपुत्र न्यायमूर्ति चन्द्रशेखर धर्माधिकारी तथा पुत्रवधु श्रीमती तारा धर्माधिकारी के सहयोग से प्रस्तुत **संस्मरणांजलि** का संयोजन संभव हुआ। यह मूल रूप में मराठी भाषा में संकलित थी। हिन्दी भाषा में इसे अनुवाद करने का कठिन कार्य श्री जमनालाल जैन द्वारा सम्पन्न किया गया और इसे **सत्यनिष्ठ विचारयोगी** के रूप में हिन्दी में प्रकाशित किया गया।

इस संकलन में ६१ संस्मरणात्मक लेख संकलित हैं। सभी लेखों में दादा के प्रति विशेष स्नेह और विनय के दर्शन होते हैं। दादा की वैचारिक पृष्ठभूमि, उनकी आदर्शवादिता, गांधी जी के प्रति उनके समर्पण, सर्वोदय दर्शन की मीमांसा तथा उनकी स्नेहिल सामान्य और सहज चर्या के दर्शन प्रायः सभी संस्मरणों में दीख पड़ते हैं। श्री जमनालाल जैन ने अपने स्वयं के संस्मरण में दादा के स्नेह और बड़प्पन को इंगित करते हुए अपनी सहज विनय में उल्लेख किया है - "पूज्य दादा इसीलिए महान थे कि वे महानता से, मान-सम्मान से सदैव बचते रहे हैं। वे सामान्यों में असामान्य थे और असामान्यों में अति सामान्य की तरह मोहमुक्त और स्नेहयुक्त जीवन जीते रहे और गुण-ग्रहण की प्रेरणा देते रहे।"

इन संस्मरणों में दादा के विचार, चिन्तन और मान्यतायें यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। वे एक आदर्शवादी क्रांतदर्शी व्यक्तित्व का परिचय देती हैं। 'सामान्य नागरिक संहिता' के सम्बन्ध में उनका विचार ऐसे कानून से था जो धर्म के नाम पर मानवता विरोधी रूढ़ियों और प्रथाओं को उखाड़ फेंकने में कारगर हो।

दादा ने असेम्बली का चुनाव गांधी जी के अनुरोध पर लड़ा था परन्तु उसमें उन्होंने यह शर्त लगाई थी कि वे अपने चुनाव के लिए धन संग्रह नहीं करेंगे, अपने चुनाव क्षेत्र में प्रचार नही करेंगे, उनके चुनाव क्षेत्र में आवाज खर्च न की जाये,

बड़े-बड़े भारी भरकम आश्वासन न दिये जायें, जाति-धर्म के नाम पर प्रचार न होने दिया जाये, और विरोधी उम्मीदवारों का चरित्र हनन न किया जाये। इस आदर्शवादिता का वर्तमान परिस्थितियों में कोई उपयोग ही नहीं है। अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व उन्होंने वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ से यह टिप्पणी की थी - "इस देश के लिए बड़े गौरव की बात है यहां जो अखिल भारत के नाम का मनुष्य होगा वह विश्व के नाम का होगा। कन्याकुमारी से लेकर श्रीनगर तक और इधर द्वारिका से लेकर सदिया तक जिस मनुष्य को लोग जानेंगे वह कम-से-कम एवरेस्ट की ऊंचाई का होगा, वरन् उसे लोग देख नहीं सकेंगे। दुर्भाग्य से आज बौने पैदा होते जा रहे हैं। अपने-अपने जिले के नाम के, अपने-अपने गांव के नाम के, अपने-अपने थाने के नाम के भी। और यह अपना-अपना खुद संकुचित क्षेत्रवाद लेकर दिल्ली की गद्दी पर बैठेंगे।" दादा की यह आशंका पूर्णतः फलीभूत हुई है जो राष्ट्रीय स्तर पर संताप का विषय है।

इन संस्मरणों में आचार्य दादा धर्माधिकारी के व्यक्तित्व का आकलन एक आदर्शवादी धर्मनिष्ठ समाजचेता और प्रबुद्ध चिन्तक के रूप में किया गया है। उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष को प्रकाश में लाने के लिए लेखक, सम्पादक, अनुवादक और प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं।

- डॉ. शशि कान्त

(२) **आदि तीर्थंकर ऋषभदेव** : ले. डॉ. धर्मचन्द्र जैन एवं डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल; प्र. सरस्वती नदी शोध संस्थान हरयाणा, जगाधरी-१३५००३; प्र.सं. २००७ ई; पृ. १८४ सचित्र; मूल्य रु. १५०/-

सात अध्यायों और तीन परिशिष्टों में समाहित प्रस्तुत कृति में विद्वानद्वय ने तीर्थंकर ऋषभदेव के जीवनवृत्त एवं समय, विभिन्न मुद्राओं में प्राप्त उनकी मूर्तियों, उनके सहस्रनाम और **सहस्रनाम स्तवन** में प्रयुक्त कतिपय विशिष्ट विशेषणों का विवेचन करते हुए उनके लिये प्रयुक्त ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव सम्बन्धी विशेषणों की सार्थकता पर प्रकाश डाला है तथा वैदिक एवं पौराणिक साहित्य और पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर कतिपय समानताओं को दृष्टिगत रखकर जैनेतर भारतीय परम्परा में मान्य भगवान शिव शंकर से उनका तादात्म्य स्थापित किया है। विद्वानद्वय द्वारा जैन तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव और वैदिक-ब्राह्मण परम्परा में भगवान रूप में मान्य आदि देव शिव के माध्यम से दोनों परम्पराओं के मध्य किये गये समन्वय का यह प्रयास भारतीय संस्कृति की मूलधारा, भले ही विभिन्न रूपों में प्रवाहित होती रही, के एक होने की ओर तो इंगित करता ही है भारतीय समाज में परस्पर सौहार्दपूर्ण वातावरण का सर्जक भी कहा जायगा। इस हेतु विद्वानद्वय के साथ-साथ इसकी प्रेरणा

देने वाले सरस्वती नदी शोध संस्थान के अध्यक्ष श्री दर्शनलाल जैन भी साधुवाद के पात्र हैं।

(३) **कवि बनारसीदास की आत्मकथा** : ले. श्री ज्ञानचन्द जैन; प्र. विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी-२२१००१; प्र.सं. २००६ ई.; पृ. ६२; मूल्य रु. ८०/-

'पत्रकारिता भूषण सम्मान' और 'यश भारती सम्मान' से सम्मानित हिन्दी के प्रख्यात वयोवृद्ध साहित्यकार श्री ज्ञानचन्द जैन की लेखनी से प्रसूत प्रस्तुत कृति में संवत् १६९८ (सन् १६४१ ई.) में आगरा में ५५ वर्ष की वय में कविवर बनारसीदास द्वारा **'अर्ध-कथानक'** नाम से मध्य देश (आगरा-मथुरा अंचल) की जनपदीय भाषा में ६७५ दोहा-चौपाई में निबद्ध आत्मकथा का एक महत्वपूर्ण साहित्यिक, ऐतिहासिक और भाषायी दस्तावेज के रूप में तथा मुगलकालीन एक व्यापारी परिवार की तीन पीढ़ियों की गाथा के रूप में अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी ही नहीं भारतीय भाषाओं में लिखित इस प्रथम आत्मचरित की विशेषताओं ने लेखक को सन् १६४३ ई. में पं. नाथूराम प्रेमी जी द्वारा सम्पादित-प्रकाशित **अर्ध-कथानक** की प्रति प्राप्त होने पर ही मुग्ध कर दिया था और उन्होंने तभी उसकी संक्षिप्त समीक्षा **'भारत'** में प्रकाशित की थी। चाहते हुए भी अन्य व्यस्तताओं के चलते उस कृति का विस्तृत अध्ययन पहले प्रस्तुत नहीं कर सके और अपने जीवन के अंतिम वर्ष में ही उस पर अपनी लेखनी प्रवृत्त कर सके। मध्यकालीन व्यापारी-कवि की आत्मकथा का यह सर्वथा अनूठा और हृदय को छू लेने वाला सरस अध्ययन प्रस्तुत कर श्रद्धेय ज्ञानचंद जी ने अपनी वर्षों की साध को बखूबी पूरा किया है।

(4) **Meru Temples of Angkor: A New Historical Perspective :** by Sri Jineshwar Das Jain; pub. Arihant International, B-5/263, Yamuna Vihar, Delhi-110053; 1st ed. 1999; pp. 44+43 figures; price Rs. 200/-

The author of this treatise is basically an electronics engneer and an ardent follower of Jainism. The article on Angkor Temples in National Geographic May 1982 by Peter J. White aroused his curiosity about those temples. As a student of Jain philosophy, religion, history and geography he found that some of the temples mentioned in the article resembled to those depicted in the Jain scriptures. He travelled to Cambodia and visited Angkor temples and came back convinced about his surmise.

The treatise besides Introduction, ten Appendices, Bibliography and 43 figures, contains 8 Chapters. These are - Indian culture & religions;

Lord Mahavira & Lord Buddha; Lord Parshvanath and serpent angels; Yakshas and Yakshinis in Jain temples; Angkorvat- the five Meru temples; Angkor Thom; Rulers of Cambodia; and other important religious concepts in Jainism.

Although it is difficult to agree with all the surmises of the learned author, there is no doubt that at one time in the annals of history there was spread of Jain religion and culture in South-East Asian countries. There are references in Jain story literature of the enterprising Jain merchants who took sea voyage to the neighbouring countries like Cambodia, Singhal Dweep and others. Those rich traders worked as carriers of their religion and culture to those lands. As a result thereof we find remains of Meru temples and serpant hooded idols of Lord Parshavanath in meditation and standing postures in Angkor even today although it is now a forgotten religion there. The author deserves congratulations for bringing out this new historical perspective of the matter which provides material for further thinking and research.

(5) **Madan-Parajaya :** by Nagdev; English translators Sri Dashrath Jain and Prof. P. C. Jain; pub. Kela Devi Sumati Prasad Trust, B-5/263, Yamuna Vihar, Delhi-110 053; Ist ed. July 2006; pp. 150; price Rs. 300/-

The present work contains the original Sanskrit composition **'Madan-Parajaya'** with its lucid translation in English. The work is based on Haridev's Prakrit poetic work **Mayan Parajaya Chariu.** Haridev happened to be an ancestor of the author Nagdev. The allegorical story depicted in this work is of conflict between Makaradhwaj (cupid or Kamdev), the king of the city Bhava (mundane existence), and Jinraj, the king of Charitrapur (city of good conduct), for wedding with Mukti (Salvation), the beautiful daughter of Siddhasen. Divided into five chapters, the first part deals with the breaking of the news to the king Makaradhwaj of the intention of Jinraj to wed Mukti in Mokshpur and the former's forcing his wives Rati and Preeti to pursuade Jinraj not to marry Mukti. The second one contains the dialogue between the emissaries of king Makaradhwaj with Jinraj and the latter's forcibly turning out of the emissaries from his court. Description of the army of Makaradhwaj has been dealt with in the third chapter and the fourth one deals with the vivid description of the army of Jinraj and the fierce battle that took place between the two armies resulting in the defeat of King Makaradhwaj (cupid) and his transformation into Anang (the bodiless). The last chapter is about the Swayamavar of Jinraj with Mukti, attainment of salvation by him and of the entrustment of the safety and security of Charitrapur to his Gandhar Vrishabhasen.

Vrishabhasen is regarded to be the prime disciple of Rishabhdev, the first Tirthankar. Hence, the Jinraj mentioned in the story alludes to Rishabdev who ultimately attained salvation.

The interesting narration of the story, which is full of suspense from beginning to end, is interwoven artistically with the threads of Jain philosophy and ethics. It indicates the path by following which a mundane soul can attain salvation. Composed in quite simple and lucid language in prose and poetry the work also presents a fine picture of royal decency and decorum as well as the code of conduct followed by the great kings in those times. Dealing with Kamdev, Anang and Rati as main characters the work is not devoid of amorous description of women wherever it was necessary. The author has not hesitated in utilising the good sayings of other writers in the work wherever he considered it necessary.

Although there is no indication of the time of the compostion in the work itself, the learned translators have assigned it to the fourteenth century A. D.

It may be mentioned here that a well edited edition of this work with Hindi translation by Dr. Raj. Kumar Jain had already been published in 1948 by Bhartiya Jnanpith. Now for bringing out this classical literary work so nicely for the readers of English language, the publisher deserves congratulations.

उपर्युक्त के अतिरिक्त निम्नलिखित साहित्य की प्राप्ति साभार स्वीकार है :-

(१) **Ancient Geography of Ayodhya:** by Dr. Shyam Narain Pande; pub. Research Books, B-5/263, Yamuna Vihar, Delhi-110053; ed. 2002; pp. 116; price Rs. 200/-

(२) **द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ-सम्यक् अनुशीलन (एक समीक्षात्मक अध्ययन):** ले. श्री मनोहर मारवडकर; प्र. युगम प्रकाशन, महावीर नगर, नागपुर-४४०००६; प्र.सं. अगस्त २००७; पृ. ७६; मूल्य रु. १५/-

(३) **श्री शान्ति विधान (नवदेव-पूजन):** रचि. श्री मनोहर मारवडकर; प्र. युगम प्रकाशन, महावीर नगर, नागपुर-४४०००६; द्वि.सं. २००७; पृ. ५४; मूल्य रु. १०/-; (पूजन मराठी भाषा में निबद्ध है)

(४) **बिना दवा मधुमेह (डायबिटीज) का प्रभावशाली उपचार:** ले. डॉ. चंचलमल चोरडिया; प्र. कल्याणमल चंचलमल चोरडिया ट्रस्ट, 'चोरडिया भवन', जालोरी गेट, गोले बिल्डिंग रोड, जोधपुर-३४२००३; जुलाई २००७; पृ. २४, सहयोग राशि रु. ११/-

(५) क्या है आरोग्य आपका ? : ले. डॉ. चंचलमल चोरड़िया; प्र. कल्याणमल चंचलमल चोरडिया ट्रस्ट, 'चोरडिया भवन, जालोरी गेट, जोधपुर-३४२ ००३; पृ. २४

- रमा कान्त जैन

समाचार विमर्श

अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी के देश में हिंसा का बढ़ता ग्राफ

रिलायन्स ग्रुप ने अबं मांसाहारी पदार्थों से बनी हुई विभिन्न वस्तुओं को बाजार में बेचने का निर्णय कर लिया है और अहमदाबाद में इसकी एक स्टॉल भी चालू कर दी है। निकट भविष्य में भारत के विभिन्न शहरों में लगभग १०० स्टॉल स्थापित करने की योजना है।

- इकोनोमिक टाइम्स, नई दिल्ली, १०.४.२००७

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार सैकड़ों नये स्लाटर हाउस खोलने के प्रस्ताव की स्वीकृति दे चुकी है।

जयपुर नगर निगम द्वारा दो सौ करोड़ रुपये की लागत से विशाल माडर्न बूचड़खाना चैनपुरा में बनाया जा रहा है।

अजमेर रेलवे प्लेटफार्म पर देश में प्रथम बार मांस-विक्रय स्टाल खोला जा रहा है।

- दिशाबोध, कोलकाता, जून-२००७

पूरे देश में बिड़ला मन्दिर बनाने वाला धार्मिक बिड़ला परिवार पुणे नगर में बाजार में शुद्ध मांस बेचने की तैयारी कर रहा है।

- नई दुनिया, इन्दौर, ७-७-२००७

तमिलनाडु सरकार स्कूलों में दोपहर के भोजन के लिये अंडों की आपूर्ति प्रति सप्ताह डेढ़ करोड़ से बढ़ाकर सवा दो करोड़ अंडे प्रति सप्ताह करने जा रही है।

- दि हिन्दु, चेन्नै, १८-७-२००७

स्थानीय जनता के प्रबल जन विरोध के बावजूद सरकार कोलकाता, जयपुर, नागपुर, इन्दौर, मुम्बई, दिल्ली आदि अनेक शहरों में विशाल बूचड़खाने खोलने के लिये आमादा है तथा राष्ट्रीय फिश बोर्ड, राष्ट्रीय मीट एवं पोल्ट्री बोर्ड बना रही है।

- दिशाबोध, कोलकाता, अक्टूबर २००७

- ऊपर उल्लिखित ये कतिपय समाचार इस बात के द्योतक हैं कि अहिंसा के पुजारी माने जाने वाले महात्मा गांधी के देश भारत में मांसाहार के नाम पर हिंसा का ग्राफ अब किस तरह दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। चिन्ता की बात यह है कि इस कार्य में सरकार ही नहीं, धर्मात्मा कहे जाने वाले प्रबुद्ध जन भी भागीदार हैं। यह प्रवृत्ति हिंसा से विरत रहनेवाली देश की जनता, जिसकी संख्या कम नहीं है, की भावनाओं

को आहत करने वाली है। अतः निन्दनीय है। धन कमाने के लिये हिंसा रहित व्यवसायों की कमी नहीं है।

डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा की मनोव्यथा

"वर्षों से हम रूढ़ि को धर्म मानकर ढो रहे हैं, परन्तु मात्र उससे किसी का कल्याण होने वाला नहीं है। सीढ़ी कभी मंजिल नहीं बनती। आज तो वैराग्य के नाम पर एक संसार को त्यागकर, नवसंसार का सृजन करने वालों का बाहुल्य है। अनन्त चतुर्दशी के दिन को समाज ने कलह चतुर्दशी बना रखा है। इस वर्ष हमने संतों एवं दशलक्षण व्रतधारियों के अनन्त चतुर्दशी एवं पारणे के पवित्र दिनों में उनकी अनन्तानुबन्धी कषायों का जीवन्त रूप देखा है। क्षमावाणी के पावन समारोह में संतों का कालुष्य एवं भावों की वीभत्सता को देखा है। झूठी प्रभावना से हमें आत्मतुष्टि नहीं हो पाती।"

"कहावत है, पान पीजे छान के, गुरु कीजे जान के। मैं वर्षों से अब तक सच्चे गुरु की तलाश कर रहा था। सर्वत्र दिगम्बर सन्त मिलते हैं, सब अपनी-अपनी तरह के अनूठे साधक हैं। सबमें चुम्बकीय आकर्षण है। ज्ञानी-ध्यानी एवं पराक्रमी हैं। प्रत्येक का अपना आभामंडल है। सबमें मुझे तीर्थंकर का स्वरूप नजर आता है, परन्तु न **जाने क्यूं, मेरा परीक्षा प्रधानी मन उनमें से किसी को भी पूर्ण रूप से स्वीकार करने का मन नहीं बना पाता।"**

- **दिशाबोध** (कोलकाता) के अक्टूबर २००७ अंक के क्रमशः पृष्ठ ३-४ व ८ से ऊपर उद्धृत अंशों में इस पत्रिका के धर्मनिष्ठ विद्वान सम्पादक बन्धुवर डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा जी ने जो यथार्थ स्थिति का वर्णन किया है और इस सम्बन्ध में उनकी जो मनोव्यथा है, उसमें कोई शंका नहीं है। किन्तु हमारी अल्पबुद्धि यह समझ पाने में असमर्थ है कि ऐसे परीक्षा प्रधानी, विवेकशील और चिन्तक प्राणी भी उक्त स्थिति के होते जानते हुए वर्तमान संतों की यशोगाथा गाने में क्यों किसी से पीछे नहीं हैं? इसका तरोताजा उदाहरण **दिशाबोध** का भव्य सचित्र रंगीन **तरुणसागर विशेषांक** है जिसे प्रथम पुरस्कार प्राप्त होने का उन्हें भी गर्व है और हम भी उस सुन्दर प्रस्तुति के लिए उन्हें बधाई देते हैं!

- रमा कान्त जैन

समाचार विविधा

बावनगजा में पंचकल्याणक और महामस्तकाभिषेक

२७ जनवरी से ४ फरवरी, २००८ ई. तक सतपुड़ा की सुरम्य पर्वत श्रृंखला के मध्य बड़वानी (मध्य प्रदेश) में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की पर्वत में उत्कीर्ण ८४ फुट (५२ हाथ) की मूर्ति, जो बावनगजा के नाम से विख्यात है, का पंचकल्याणक एवं महामस्तकाभिषेक उपाध्याय गुप्तिसागर महाराज के सान्निध्य में विशाल स्तर पर आयोजित है।

श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश बाहुबली की मूर्ति भारत की प्रथम अजूबा घोषित

देश के सुप्रसिद्ध समाचार पत्र 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने इस वर्ष १६ से २२ जुलाई तक अपने देश व्यापी संस्करणों में भारत के विख्यात प्राचीन, मध्यकालीन और वर्तमान २० अद्भुत स्थापत्यों का सचित्र विवरण प्रकाशित कर उनमें से ७ अजूबों का चयन करने हेतु अपने पाठकों का मत आमन्त्रित किया था। **प्राप्त मतों के आधार पर, हर्ष का विषय है, श्रवणबेलगोल स्थित गोम्मटेश्वर बाहुबली की मूर्ति को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ।** तदनन्तर क्रमशः अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर, आगरा के ताजमहल, हाम्पी, कोणार्क, नालन्दा और खजुराहो को द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, छठा और सातवां स्थान प्राप्त हुआ।

ध्यातव्य है कि कर्णाटक राज्य में हासन जिले के अन्तर्गत चेन्नारायपत्तन तालुक में, मैसूर से १०० कि.मी. दूरी पर, चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि नामक दो पहाड़ियों के मध्य स्थित झील और उसके आसपास का क्षेत्र श्रवणबेलगोल (श्रमणों का धवल सरोवर) नाम से विख्यात है। यह स्थान बहुत प्राचीनकाल से जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। दसवीं शती ईस्वी के अन्तिम पाद में गंग नरेशों के महामात्य और प्रधान सेनानायक चामुण्डराय अपरनाम 'गोम्मट' ने अपनी माता काललदेवी की इच्छापूर्ति हेतु तत्समय के शिल्पकार शिरोमणि अरिष्टनेमि से अपने गुरु अजितसेन आचार्य और नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के मार्गदर्शन में विन्ध्यगिरि पर्वत पर एक ही चट्टान से तराशकर ५७ फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव के पुत्र तपस्वी बाहुबली स्वामी की भव्य खड्गासन मूर्ति का निर्माण कराया था। मूर्ति की प्रतिष्ठा रविवार, चैत्र शुक्ल ५, कल्कि संवत् ६०० (१३ मार्च, ९८१ ई.) को हुई थी।

यूं तो दक्षिण भारत और उत्तर भारत में भी कई स्थानों पर बाहुबली स्वामी की उत्तुंग खड्गासन मूर्तियां विराजमान हैं, किन्तु गोम्मट द्वारा निर्मापित होने के कारण श्रवणबेलगोल स्थित यह मूर्ति गोम्मटेश्वर बाहुबली के नाम से विख्यात है और विश्व की उत्कृष्ट कलाकृतियों में इसकी गणना है।

अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस

हर्ष का विषय है कि इस वर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ ने अहिंसा के पुजारी माने जाने वाले महात्मा मोहनदास करमचंद गांधी के जन्मदिन २ अक्टूबर को अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस घोषित किया है और देश-विदेश में उनकी स्मृति में विविध आयोजन किये गये हैं। इसी कड़ी में उदासीन आश्रम द्रोणागिरि (मध्यप्रदेश) में इस अवसर पर 'जीवन में नैतिक मूल्यों का विकास' विषय पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित हुई।

तीनों सत्रों में सम्पन्न संगोष्ठी की अध्यक्षता क्रमशः ब्र. बिनोद कुमार जैन (अधिष्ठाता द्रोणागिरि आश्रम), सेठ दामोदर जैन (मंत्री, सिद्धक्षेत्र नैनागिरि), व डॉ. गजेन्द्र कुमार जैन, ग्वालियर, ने की। संगोष्ठी में **'शोधादर्श'**, लखनऊ, के सम्पादक श्री रमा कान्त जैन के आलेख 'जीवन में नैतिक मूल्यों का प्रतिष्ठापक शौच धर्म' तथा सर्वश्री के. सी. जैन, फूलचन्द्र जैन, सुधीर जैन, बी. पी. पाण्डेय, चन्द्रभान जैन, करुणामित्र अजित जैन 'जलज', प्राचार्य रमेशचन्द्र जैन, प्रो. राकेश जैन, पत्रकार राजेश रागी एवं प्रद्युम्न फौजदार तथा डॉ. अंकित फुसकेले, इंदौर, प्रभृति ४० से अधिक विद्वानों के आलेखों का वाचन कर समाज को नई दिशा प्रदान की गई। कार्यक्रम का संयोजन श्री सुरेन्द्र कुमार जैन (राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त व्याख्याता, भगवा- छतरपुर) ने सर्वश्री एम. एल. जैन प्राचार्य, धनकुमार जैन आचार्य और सुरेश जैन शिक्षक के सहयोग से किया।

राज्यपाल ने गुजरात धर्म स्वातंत्र्य (संशोधन) विधेयक २००६ लौटाया

गुजरात के राज्यपाल श्री नवल किशोर शर्मा ने जैन संस्कृति रक्षा मंच के अध्यक्ष श्री मिलापचंद डंडिया को सूचित किया कि उन्हें इस विधेयक के विरोध में देश भर से जैन, बौद्ध तथा क्रिश्चियन समाज के अनेक प्रतिवेदन मिले थे। विधेयक में जैन समाज से संबधित अनेक संवैधानिक प्रश्न जुड़े हुए थे। अतः उनके सम्बन्ध में विधेयक के विभिन्न पहलुओं का और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का गहन अध्ययन करने तथा कानूनविदों से सलाह मशविरा करने के बाद विधेयक को स्वीकृति न देने

का निर्णय किया। इसी कारण विधेयक वापस करने में थोड़ी देर हुई, किन्तु उनकी मान्यता है कि उनका यह निर्णय आज की परिस्थिति में कानून की दृष्टि से ठीक है।

'जैन साहित्य और इतिहास' का पुनः प्रकाशन

बीसवीं शती के प्रारंभ में जैन साहित्य और इतिहास के क्षेत्र में अनेक शोधपूर्ण लेखों के प्रणेता पं. नाथूराम प्रेमी जी के विशिष्ट लेखों का संकलन प्रथमतः सन् १९४२ ई. में 'जैन साहित्य और इतिहास' नाम से प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर उस कृति का संशोधित, परिवर्तित और परिवर्द्धित संस्करण, जो ६०५ पृष्ठ का था, प्रेमी जी ने अपने हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर (प्रा.) लिमिटेड, बम्बई से सन् १९५६ ई. में प्रकाशित किया था। जैन साहित्य और इतिहास के अध्येताओं के लिये उपयोगी इस कृति के अप्राप्य हो जाने से अब ५१ वर्ष उपरान्त उसके पुनः प्रकाशन का उपक्रम श्री देवेन्द्र जैन ने सन्मति ट्रस्ट, संजय मेन्शन, ए ब्लाक, दूसरा माला, रूम नं. १८, भांगवाड़ी, ४४८ कालबा देवी रोड, मुम्बई-४०० ००२ के माध्यम से किया है, और लगभग ६०० पृष्ठ के इस वृहत्काय ग्रन्थ का लागत मूल्य रु. २००/-, अग्रिम सहयोग राशि रु. १५०/-, पोस्टेज रु. ३०/- प्रस्तावित किया है।

अभिनन्दन

श्री ज्योति बाबू जैन को उनके शोध-प्रबंध **"आचार्य देवसेन की रचनाओं का समीक्षात्मक अध्ययन"** पर मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, ने पी-एच.डी. उपाधि प्रदान की।

साध्वी सुधाप्रभा जी को उनके शोध-प्रबन्ध **"मनोनुशासनम् : एक समीक्षात्मक अध्ययन"** पर जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, ने पी-एच.डी. उपाधि प्रदान की। **'मनोनुशासनम्'** आचार्य तुलसी की कृति है।

श्रुत पंचमी पर्व पर इस वर्ष इंदौर में ज्योतिष एवं प्रतिष्ठापाठ के मर्मज्ञ संहितासूरि **पं. नाथूलाल जैन शास्त्री,** कर्म सिद्धान्त के विद्वान **ब्र. रतनलाल शास्त्री** और जैन गणित के विशेषज्ञ **डॉ. अनुपम जैन** को **'जैन मनीषी'** विरुद से सम्मानित किया गया।

प्रतिष्ठाचार्य **श्री गुलाबचंद 'पुष्प'** को नई दिल्ली में **'पं. बाबूलाल जमादार स्मृति पुरस्कार'** से सम्मानित किया गया।

डॉ. सुधा कांकरिया (अहमदाबाद) को निर्मल ग्राम योजना के अन्तर्गत किये गये कार्य हेतु महामहिम राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत किया गया।

३० अगस्त, २००७ ई. को संस्कृतोत्सव २००७ के अवसर पर भोपाल में मध्यप्रदेश संस्कृत बोर्ड की ओर से प्रदेश के महामहमि राज्यपाल डॉ. बलराम जाखड़ द्वारा ग्वालियर के महारानी लक्ष्मीबाई शासकीय उत्कृष्ट महाविद्यालय की संस्कृत प्राध्यापिका **डॉ. कृष्णा जैन** को **वागर्थ सम्मान** से सम्मानित किया गया।

वरिष्ठ पत्रकार एवं **अहिंसा सन्देश** (पाक्षिक) के सम्पादक **श्री रतनेश कुमार जैन**, रांची, को २ सितम्बर को उनके अमृत महोत्सव पर आयोजित भव्य समारोह में पत्रकारिता हेतु पुरस्कृत किया गया।

नवोदय विद्यालय मानपुर (जौरा), जिला मुरैना, में संगीत शिक्षक के रूप में कार्यरत छतरपुर नगर के बहुमुखी प्रतिभा के धनी दृष्टिहीन **श्री मुकेश जैन** को शिक्षक दिवस पर राष्ट्रपति महामहिम श्रीमती प्रतिभा सिंह पाटिल द्वारा दिल्ली में **राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित** किया गया।

५ सितम्बर को जयपुर में वहाँ की जौहरी बाजार दिगम्बर जैन महिला समिति की अध्यक्षा **डॉ. (श्रीमती) शीला जैन** को उनकी उल्लेखनीय समाजसेवाओं हेतु जैन संस्कृति रक्षा मंच की ओर से पूर्व उपराष्ट्रपति श्री भैरोंसिंह शेखावत द्वारा सम्मानित किया गया। उस अवसर पर श्री शेखावत ने आठ वर्षीया बालिका **सृष्टि** को भी प्रशस्ति पत्र और स्मृति चिन्ह भेंट किया जिसके चातुर्य और साहस के कारण न्यायमूर्ति पानाचंद जैन् के घर पड़ी सशस्त्र डकैती में परिवारजनों के प्राण बच सके थे।

वरिष्ठ पत्रकार, दैनिक **यंगलीडर** और साप्ताहिक **जिनेन्दु** (अहमदाबाद) के सम्पादक, **श्री जिनेन्द्र कुमार जैन** को २२ सितम्बर को उदयपुर में जैन विश्व भारती, लाडनूं, द्वारा **श्री संघ सेवा पुरस्कार-२००७** तथा ३० सितम्बर को लखनऊ में जैन मिलन, लखनऊ, द्वारा **विश्व मैत्री सेवा सम्मान-२००७** से सम्मानित किया गया।

३० सितम्बर को ही जैन मिलन, लखनऊ, द्वारा आयोजित विश्व मैत्री दिवस पर ८२ वर्षीय आयुर्वेदाचार्य **डॉ. पूर्णचन्द्र जैन (लखनऊ)** को जैन मिलन संगठन में उल्लेखनीय योगदान हेतु श्री मुन्नेलाल जैन कागजी ट्रस्ट की ओर से **मिलन उपलब्धि सम्मान २००७ (लाइफ टाइम अचीवमेन्ट अवार्ड)** से सम्मानित किया गया। तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र., की कार्यकारिणी के सदस्य डॉ. जैन दर्शनाचार्य और न्यायतीर्थ की उपाधियों से विभूषित हैं। वह राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ से प्रधानाचार्य एवं सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद से सेवानिवृत्त हुए, लखनऊ विश्वविद्यालय की आयुर्वेद संकाय के डीन, उसमें शरीर विभाग के प्रोफेसर

एवं विभागाध्यक्ष, केन्द्रीय आयुर्वेद संस्थान में रिसर्च आफिसर और आयुर्वेद एवं यूनानी तिब अकादमी, यू.पी., के सेक्रेटरी रहे तथा उन्हें आयुर्वेद शिक्षा सम्बन्धी ६ पुस्तकें एवं चिकित्सा विषयक १०० से अधिक शोध-पत्रों के प्रणयन का श्रेय है। परम धर्मनिष्ठ डॉ. जैन लखनऊ जैन मिलन के तो कई वर्ष तक अध्यक्ष रहे ही, भारतीय जैन मिलन क्षेत्र सं. १ के अध्यक्ष और भारतीय जैन मिलन के उपाध्यक्ष रहने का सौभाग्य भी उन्हें प्राप्त रहा। वर्तमान में वह भारतीय जैन मिलन क्षेत्र सं. १ के संरक्षक हैं तथा अनेक जैन एवं जैनेतर सामाजिक संस्थाओं से सम्बद्ध हैं।

२६ अक्टूबर को लखनऊ में उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान ने रीडर **डॉ. विजय कुमार जैन** को उनकी कृति **'अत्त दीपो भव'** के लिये पुरस्कृत किया।

श्री कपूरचन्द घुवारा, सदस्य, मध्य प्रदेश विधानसभा, हस्तशिल्प विकास निगम के अध्यक्ष मनोनीत हुए।

वरिष्ठ पत्रकार, लेखक एवं समाजसेवी **श्री रवीन्द्र मालव** मध्य प्रदेश दिगम्बर जैन परिषद के अध्यक्ष मनोनीत किये गये। वह स्व. श्री पारस दास जैन के स्थान पर मासिक पत्र **'वीर'** के **मानद प्रधान सम्पादक** तथा **श्री राजेन्द्र कुमार जैन,** मेरठ, **सम्पादक** बनाये गये।

विमल विद्या श्रुत संस्थान द्वारा दौसा (राजस्थान) में (१) **डॉ. सविता जैन** (दिल्ली) को उनकी कृति **'जूनागढ़ की वैदेही'** पर **चतुर्थ वात्सल्य रत्नाकर पुरस्कार २००६** तथा **'अभिनव साहित्यकार'** के विरुद से; (२) **डॉ. उदयचन्द्र जैन** (उदयपुर) को **प्रशान्तमूर्ति पुरस्कार २००६** एवं **'प्राच्य विद्या मनीषी'** के विरुद से' तथा (३) **डॉ. सत्य प्रकाश जैन (नई दिल्ली)** को **सिद्धान्त चक्रवर्ती पुरस्कार २००६** और **'जिनागम प्रभावक'** के विरुद से सम्मानित किया गया।

केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, में विगत ११ वर्षों से सेवारत अनेक शोध-पत्रों के प्रणेता **श्री विवेकानन्द जैन** को श्री महावीर जी में **वर्ष २००७ का वागीश्वरी पुरस्कार** प्रदान किया गया।

प्रो. लालचन्द्र जैन को उनकी कृति **'उड़ीसा में जैन धर्म'** के लिये **पं. गोपालदास वरैया स्मृति विद्वत्परिषद पुरस्कार २००७** से पुरस्कृत किया गया।

उपर्युक्त सभी सम्मानित महानुभावों का उनकी उपलब्धियों के लिये शोधादर्श परिवार अभिनन्दन करता है और उन्हें अपनी शुभकामना अर्पित करता है।

श्री नरेश चन्द्र जैन का अमृत महोत्सव

२६ सितम्बर, १६३२ ई. को इलाहाबाद में फर्नीचर व्यवसायी श्री हुकमचन्द्र जैन के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में जन्मे श्री नरेश चन्द्र जैन, एम.ए., एल.टी., का अमृत महोत्सव (७६वां जन्म दिन) ३० सितम्बर, २००७ ई. को उनके निवास ४४३, राजेन्द्रनगर, लखनऊ में हर्षोल्लास के साथ मनाया गया।

शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त श्री जैन ने कुछ समय इलाहाबाद में शिक्षण कार्य किया। तदनन्तर उ.प्र. लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षा के आधार पर वह सन् १६५६ ई. में उ.प्र. सविचालय, लखनऊ में प्रविष्ट हुए और वहां से ३० सितम्बर, १६६० ई. को उपसचिव, उत्तर प्रदेश शासन, के पद से ससम्मान सेवानिवृत्त हुए।

कार्यक्रम का शुभारम्भ श्री रमा कान्त जैन ने मंगलाचरण से किया और बताया कि सन् १६५६ ई. से ही श्री नरेश चन्द्र जी से उनके सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं।

डॉ. शशि कान्त ने श्री नरेश चन्द्र जी की सामाजिक गतिविधियों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि वह जैन मिलन लखनऊ और तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र., के संस्थापक सदस्यों में से हैं तथा जैन शिक्षण संस्थान लखनऊ, जैन धर्म प्रवर्द्धिनी सभा लखनऊ, उ.प्र. दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी एवं भारतीय जैन मिलन प्रभृति अनेक जैन संस्थाओं से जुड़े रहे हैं। उ.प्र. सचिवालय सेवा अधिकारी संघ और अनन्त-ज्योति विद्यापीठ के उनके द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में उन्हें श्री नरेश चन्द्र का सक्रिय सहयोग प्राप्त रहा। सम्प्रति वह तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति के उपाध्यक्ष हैं और उनसे उनके आज तक घनिष्ठ मित्रवत सम्बन्ध हैं।

श्री रमा कान्त और डॉ. शशि कान्त के साथ-साथ सर्वश्री राजेन्द्र कुमार जैन (मेरठ), जिनेन्द कुमार जैन (अहमदाबाद), डी. के. जैन, लूणकरण नाहर जैन, शैलेन्द्र जैन, राकेश जैन, नलिन कान्त जैन, चन्द्र मोहन जैन, अजय कुमार जैन कागजी, विशाल जैन, राजेश जैन तथा अन्य सभी उपस्थित ने श्री नरेश चन्द्र जी को उनके जन्मदिन पर बधाई दी और उनके स्वस्थ रह सुयशपूर्ण शतायु होने की शुभ कामना की !

इस अवसर पर हास्य कवि श्री भोलानाथ श्रीवास्तव 'अधीर' की अध्यक्षता में एक काव्य गोष्ठी भी हुई जिसका संचालन श्री सुरेश नवीन 'आवारा' ने किया। अधीर और आवारा के अतिरिक्त सर्वश्री तेज नारायण 'राही', राम बहादुर अधीर

'पिण्डवी' और रमा कान्त जैन ने अपनी रचनाओं से तथा श्री लूणकरण नाहर जैन ने अपने भजन से वातावरण को रससिक्त किया। श्री नरेश चन्द्र जी के सुपुत्र चि. राजीव जैन द्वारा आगन्तुकों का धन्यवाद ज्ञापन किये जाने के साथ कार्यक्रम पूर्ण हुआ।

श्री शान्तीलाल जैन बैनाड़ा

आगरा में शरद पूर्णिमा, १४ अक्टूबर, १९३२ ई. को जन्मे श्री शान्ती लाल जैन बैनाड़ा ने भी इस वर्ष ७५ वर्ष पूर्ण कर ७६वें वर्ष में प्रवेश किया। वस्त्र व्यवसायी श्री श्यामलाल बैनाड़ा और श्रीमती मंगलीबाई के सुपुत्र शान्तीलाल जी की शिक्षा यद्यपि मिडिल तक ही हुई थी, उन्होंने अपने अध्यवसाय से हिन्दी, अंग्रेजी, प्राकृत, संस्कृत और उर्दू भाषा का विशेष ज्ञान प्राप्त किया। बचपन से ही स्वाध्याय में रुचि रही और धार्मिक परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। आयुर्वेद और ज्योतिष में भी रुचि रही। शिक्षा पूर्ण कर प्रथमतः परम्परागत कपड़े का व्यापार किया, परन्तु सन् १९४८ ई. में उसे बन्द कर सराफे का व्यापार शुरू किया। श्री शान्तीलाल की दो शादी हुईं। प्रथम पत्नी मात्र ७ वर्ष जीवित रहीं। १९५७ ई. में दूसरी शादी की। उनके दो पुत्र हैं जो बैंक में सेवारत हैं और दो पुत्रियां हैं जो ग्वालियर और महिदपुर (म.प्र.) के धार्मिक परिवारों में विवाहित हैं।

साधु सेवा, देवपूजन, स्वाध्याय, विद्वानों के सम्मान एवं संगति, सामाजिक सुधारों हेतु लेख लिखने और तीर्थ क्षेत्रों के दर्शन में आजीवन रत रहे बैनाड़ा जी व्यापार से निवृत्त होकर अब अपना पूरा समय धर्म ध्यान को दे रहे हैं।

नामानुकूल शान्तिपूर्ण सरल-सादा जीवन् व्यतीत करने वाले बैनाड़ा जी को उनकी समाजसेवा हेतु आगरा सराफा कमेटी ने इस वर्ष **'वृद्ध पुरुष सम्मान'** से सम्मानित किया है। दिग. जैन शिक्षा समिति, आगरा, की कार्यकारिणी के सदस्य तथा शांतिनाथ दिग. जैन मंदिर, हरीपर्वत, आगरा, के मंत्री बैनाड़ा जी 'सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्' की भावना में विश्वास रखते हैं। **शोधादर्श** के सुधी पाठक-लेखक बैनाड़ा जी के लिये हमारी शुभकामना है कि वह स्वस्थ और धर्मध्यान में रह रह शतायु हों !

कर न सको उपकार यदि, मत करना अपकार।
उपकार करे यदि कोइ, मत दो उसे विसार।।

शोक संवेदन

२३ मई, २००७ ई. को इन्दौर में १०२ वर्षीय विद्वान पं. **श्री सिंघई फूलचन्द जैन शास्त्री** का निधन हो गया।

२१ जून को भिण्ड में स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी, वैद्य जी के नाम से प्रख्यात, ९० वर्षीय **डॉ. भानुकुमार जैन** नहीं रहे।

३० जून को प्रज्ञापुरुष, मनोहारी व्यक्तित्व के धनी, कुशल शिक्षक एवं प्रशासक, जबलपुर निवासी ८५ वर्षीय **प्रो. प्रफुल्ल कुमार मोदी** का देहावसान हो गया। वह प्राच्य भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. हीरालाल जैन के सुपुत्र थे।

१६ जुलाई को जयपुर में कई कृतियों के प्रणेता, दार्शनिक चिन्तक विद्वान ७६ वर्षीय पं. **ज्ञानचन्द्र बिल्टीवाला** दिवंगत हो गये।

२५ अगस्त को कानपुर में अनेक स्थानीय एवं अखिल भारतीय दिगम्बर जैन संस्थाओं से सम्बद्ध रहे समाजसेवी **श्री रविचन्द्र जैन** (मे. विश्वेश्वरनाथ मूलचन्द्र, कराचीखाना) का निधन हो गया।

९ सितम्बर को इंदौर में जैनागम के सुधा-कलश, मूर्धन्य विद्वान, संहितासूरि **पण्डित नाथूलाल शास्त्री** का हंस पिंजरा विच्छेद ९७ वर्ष की वय में हो गया। **शोधादर्श** को और हमें व्यक्तिगत रूप से उनका आत्मीय स्नेह प्राप्त रहा।

९ सितम्बर को ही नोयडा में प्रमुख समाजसेवी, विधि एवं न्याय मंत्रालय से अतिरिक्त सचिव के पद से सेवानिवृत्त, श्री सम्मेदशिखर जी तीर्थक्षेत्र के प्रकरण में न्यायालय में दिगम्बर जैन समाज का पक्ष प्रभावी रूप से प्रस्तुत करने वाले **डॉ. धन्य कुमार जैन** का निधन हो गया। वह अलीगढ़ के सुप्रसिद्ध वैद्य इन्द्रमणि जैन के सुपुत्र और विख्यात संगीतकार श्री रवीन्द्र जैन के अग्रज थे।

१० सितम्बर को लखनऊ में हमारे मित्र, **शोधादर्श** के सुधी पाठक एवं लेखक, राज्य संग्रहालय के पुरातत्व अनुभाग से सुदीर्घकाल तक सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहे, रामकथा संग्रहालय, अयोध्या, के पूर्व निदेशक और डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की प्रेरणा से जैन मूर्तियों पर प्रतिमा शास्त्रीय अध्ययन कर शोध कार्य करने वाले ७० वर्षीय **डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी** लम्बी बीमारी के बाद हमसे बिछुड़ गये।

१६ सितम्बर को लखनऊ में हमारे मित्र ८० वर्षीय **डॉ. सतीश चन्द्र अवस्थी** नहीं रहे। वह डी.ए.वी. कालेज, लखनऊ में प्राचीन भारतीय इतिहास के विभागाध्यक्ष थे। भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आकाशवाणी लखनऊ से आयोजित कराये गये विशेष कार्यक्रम के अन्तर्गत दिनांक २.२.१९७५ को

उनकी वार्ता The Jain Holy Places of Uttar Pradesh प्रसारित हुई थी, जो इस अंक में प्रकाशित है।

३० सितम्बर को नई दिल्ली में अ. भा. दिगम्बर जैन परिषद के वरिष्ठ नेता, वीर के प्रधान सम्पादक, स्वस्थ विचारों और सिद्धहस्त लेखनी के धनी, समाजसेवी ८० वर्षीय **श्री पारसदास जैन** का निधन हो गया।

४ अक्टूबर को आगरा में ७८ वर्षीया सुश्राविका **श्रीमती मालती देवी जैन,** धर्मपत्नी स्व. श्री सतीशचन्द्र सिंघई, बी-५, बृज विहार, कमलानगर, आगरा का स्वर्गवास हो गया।

६ अक्टूबर को सुप्रसिद्ध न्यायविद्, पूर्व सांसद, ब्रिटेन में भारत के पूर्व उच्चायुक्त, अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं से सक्रिय रूप से जुड़े ७६ वर्षीय **डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी** का देहान्त हो गया।

१६ अक्टूबर को कोयम्बतूर में वयोवृद्ध साहित्यकार, मानववादी कवि, समीक्षक और शोधनिर्देशक **डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन** का स्वर्गवास हो गया। उन्होंने हिन्दी में पहली आत्मकथा बनारसीदास कृत **अर्ध-कथानक** पर पी-एच.डी. हेतु शोध-प्रबध प्रस्तुत किया था। उनकी कृति **'अहिंसा और विश्वशान्ति'** की समीक्षा **शोधादर्श**-६२ में प्रकाशित है।

२६ अक्टूबर को मुम्बई में सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि, गीतकार और बालीवुड के चरित्र अभिनेता ७१ वर्षीय **श्री शैल चतुर्वेदी** का निधन हो गया।

१६ नवम्बर को अलीगंज (एटा) में धर्मनिष्ठ, स्वाध्याय प्रिय, ८३ वर्षीया **श्रीमती प्रकाशवती जैन,** धर्मपत्नी वैद्य गंभीर चन्द्र जैन और माता वैद्य राजेश चन्द्र जैन, का निधन हो गया।

शोधादर्श परिवार उपर्युक्त दिवंगत महानुभावों को अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, उनकी आत्मा की चिर शान्ति और सद्गति के लिये जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना करता है तथा शोक संतप्त उनके स्वजनों-परिजनों के प्रति हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है।

आभार

डॉ. विनय कुमार जैन, ३६, पटेलनगर, लखनऊ, ने अपने सुपौत्र के जन्म पर **शोधादर्श** को रु. २५१/- भेंट किये।

वैद्य राजेश चन्द्र जैन, अलीगंज (एटा) ने अपनी माता जी के निधन पर उनकी स्मृति में **शोधादर्श** को रु. १००/- भेंट किये।

पाठकों के पत्र

श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर, अयोध्या, के अभिराम चित्र से विलसित **'शोधादर्श-६२'** स्तरीय और उपादेय अंक को आद्योपान्त अवलोकित कर अत्यन्त आनन्दानुभूति हुई। इसमें आपका 'गुरुगुण-कीर्तनः डॉ. हीरालाल जैन' परम प्रेरणाप्रद तो लगा ही, साथ में सुविचारित सामयिक सम्पादकीय 'सन्त समागम' भी हृदयावर्जक है। सामयिक परिदृश्य में आपकी 'क्षणिकाएं', जड़िया जी के चिन्तनकण तथा डॉ. सारस्वत जी की 'प्रश्न ये हल आज करना चाहता हूँ' ललित काव्य रचना मार्मिक लगी।

समासतः इस स्तरीय अंक की श्रेष्ठ प्रस्तुति के लिए आपका सम्पादकीय कौशल सर्वथा सराहनीय है, जिसके लिए आप साधुवाद, वर्धापना एवं अनेक अभिनंदन के सत्पात्र हैं।

- डॉ. कैलाशनाथ द्विवेदी, पूर्व प्राचार्य, अजीतमल (ओरैया)

शोधादर्श ६२ में गुरु-गुण कीर्तन में डॉ. हीरालाल का कृतित्व विशेषतः प्रेरक है, आदर्श है। 'बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रभावक जैन संत' के अन्तर्गत आचार्य रजनीश, दरबारीलाल जी, कानजी स्वामी, अमर मुनि, सुशील मुनि, आचार्य तुलसी एवं क्षुल्लक मनोहरलाल जी सहजानंद का प्रासंगिक अवदान जैन धर्म संघ के लिए प्रशंसनीय है, उदारतावादी है। **शोधादर्श** शोधार्थियों एवं शोधकर्ताओं के लिए एक प्रोत्साहनवर्द्धक एवं पठनीय पत्रिका है।

- डॉ. रतनलाल जैन, हाँसी

शोधादर्श-६२ की पूरी सामग्री महत्वपूर्ण एवं विचारप्रेरक है। श्री रमा कान्त का सम्पादकीय तो संयमी साधक के जैसा मधुर, हृदयस्पर्शी, स्नेहवर्धक है। ऐसी भाषा का प्रयोग सरल बात नहीं है।

स्व. डॉ. हीरालाल जी का गुण कीर्तन **शोधादर्श** की परम्परा के अनुरूप है। वे भारत जैन महामंडल के भी अध्यक्ष रह चुके हैं और उन्होंने प्राकृत एम.ए. अध्ययन के लिए **तत्वसमुच्चय** ग्रंथ का संकलन दिगम्बर श्वेताम्बर आगम से किया था, जिसका प्रकाशन मैंने भारत जैन महामंडल वर्धा से किया था। उन्होंने मेरे द्वारा संपादित वृन्दावनजी के **छन्द शतक** पर दो शब्द भी लिखे थे। वे स्नान करके भोजन करने बैठते तब धोती को शरीर पर लपेट लेते थे। बहुत ही सरल, हँसमुख विद्वान थे। मैं प्रायः नागपुर में उनसे मिलता रहता था।

अपना **'सर्वोदयतीर्थ के नाम पर'** लेख पुनः पढ़कर तो मैं जैसे ३० वर्ष का युवक बन गया। ५६ वर्ष पूर्व का यह लेख, मेरे ख्याल से आज भी प्रासंगिक है, चुनौती भरा है। इसीलिए तो स्व. प्रेमी जी ने अप्रैल १९५२ में ही, अस्वस्थ, बिस्तर पर रहते हुये बधाई दी थी। आपने इसे प्रकाशित करके मेरा उत्साह बढ़ा दिया।

समाचार विमर्श का क्या कहना। जो कुछ समाज में अहिंसा, त्याग और तप के नाम पर हो रहा है, उसके पीछे धन, लोभ, प्रतिष्ठा की आकांक्षा है। समाज में रचनात्मक परिवर्तन के विषय में कौन चिंतित है? सत्ता, सम्पत्ति के आगे सब झुक जाते हैं।

- श्री जमनालाल जैन, सारनाथ

शोधादर्श-६२ पढ़कर विशेष जानकारी मिली। समाज को राह दिखाने वाले लेख ज्वलंत समस्याओं पर प्रकाश डाल रहे हैं। सम्पादकीय - **सन्त समागम** वर्तमान की परिस्थिति के अनुरूप लिखा गया है, इससे कुछ जानने समझने को प्राप्त हुआ। विशेषरूप से 'नैतिकता विहीन धार्मिकता एक खतरनाक स्थिति' लेख में डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा द्वारा दर्शायी गई स्थिति विचारणीय है। तीर्थक्षेत्रों पर सुरक्षा का अभाव, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति उ.प्र. प्रगति प्रतिवेदन आदि सभी सामग्री पठनीय-विचारणीय एवं मननीय है।

- पं. सरमनलाल जैन दिवाकर शास्त्री, सरधना

शोधादर्श-६२ में श्री चीरंजीलाल बगड़ा ने जो कुछ भी लिखा है उचित ही है। आज साधु चातुर्मास कराना कोई आसान नहीं है। यह भविष्य में एक चिन्ताजनक स्थिति बनती जा रही है। अधिकतर चातुर्मास के अन्त दिनों में श्रावक इतना दुखी हो जाता है कि उसका वर्णन करना कठिन है। हर साधु अपने यश के लिये सब कुछ गलत कार्य करके खुश होते हैं कि इतिहास में मेरा नाम अमर हो गया लेकन श्रावक बुरी तरह पिस जाता है।

- श्री शान्तीलाल जैन बैनाड़ा, आगरा

शोधादर्श जुलाई अंक में डॉ. हीरालाल जैन संबंधी साहित्यिक जानकारी प्रथम बार पढ़ने को मिली। अच्छी है। इसी प्रकार **पंचाध्यायी** विषयक जानकारी भी प्रथम बार पढ़ने को मिली। ज्ञानवर्द्धक है। २०वीं सदी के उत्तरार्द्ध के प्रभावक जैन संत और जैन, बौद्ध एवं हिन्दू धर्म ग्रन्थों में अयोध्या विषयक लेख शोधपूर्ण हैं। भिक्षा विचार भी नवीन तरह से जानकारी प्रस्तुत करता है। महत्वपूर्ण लेख है।

"नैतिकता विहीन धार्मिकता" - लेख आधुनिक युग की स्थिति में बहुत कुछ सोचने विचारने को बाध्य करता है। जैन समाज में पर्व भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। लेख ज्ञानवर्द्धक है। 'व्यापक चेतन खोज रहा हूँ' तथा 'चिन्तन कण' रचनाएं आकर्षक हैं। अन्य सामग्री भी पठनीय है। प्रगति की दृष्टि से पत्रिका विकास पथ पर निरन्तर बढ़ रही है।

-श्री मदनमोहन वर्मा, ग्वालियर

शोधादर्श-६२ अभी-अभी मिला। उसमें आदिनाथ मंदिर का भव्य चित्र है। ५ से १० तक सभी लेख महत्वपूर्ण हैं। सभी लेख सुन्दर हैं। आपकी दृष्टि पैनी-प्रखर है। गुरुगुण-कीर्तन के अन्तर्गत आदरणीय प्रिय भाई डॉ. हीरालाल जैन को खूब याद किया। डॉ. ए. एन. उपाध्ये के साथ डॉ. हीरालाल का अभिनन्दन करने का अवसर लगभग चालीस साल पहले अलीगढ़ में मिला था। **शोधादर्श** से सभी बातें तरोताजा हो गयीं।

- डॉ. महेन्द्र सागर प्रचण्डिया, अलीगढ़

शोधादर्श सृजनात्मक साहित्य को स्थान देती है। पत्रिका अपना उदाहरण आप है। आप श्रद्धेय डॉ. ज्योति प्रसाद जी के कार्यों को आगे बढ़ा रहे हैं।

- डॉ. कपूरचंद जैन, खतौली

शोधादर्श के पिछले कई अंकों में दिगम्बरत्व को लेकर अच्छी चर्चा हुई है। डॉ. शशि कान्त जी और श्री अंशु जी के विचारों को काफी सराहा गया है।

-डॉ. अनिल कुमार जैन, साबरमती, अहमदाबाद

शोधादर्श-६२ पढ़कर ज्ञानार्जन एवं पूर्ण आनन्द का आभास हुआ।

- डॉ. ए. के. मर्चेन्ट, नई दिल्ली

शोधादर्श-६२ साद्यन्त पढा। डॉ. ज्योति प्रसाद जी का 'पंचाध्यायी का कर्तृत्व' सम्बन्धी सन् १९७१ का पुनर्मुद्रित आलेख पढ़कर अत्यंत आनन्द हुआ क्योंकि पं. राजमल जी पाण्डे का कर्तृत्व सामने तलस्पर्शी रूप से निखर उठा है। यथास्थिति सामने आई है।

सम्पादकीय 'सन्त समागम' चमत्कार को नमस्कार की मानसिकता को स्पर्श कर उसे बदलने की आपकी इच्छा को व्यक्त करता है। वह इच्छा फलीभूत होने के लक्षण नहीं हैं क्योंकि सामान्यजन स्वाध्याय प्रेमी नहीं हैं तथा स्वाध्याय को पंडितों-त्यागियों का काम मानते हैं। किसी भी तरह से भक्ति पूजन वैय्यावृत्यादि किये तो धन्यता मान ली

जाती है। उस हेतु धन व्यय कर धन्य मानते हैं। तन का भी कुछ प्रयोग करते हैं। मन से तो धनादि की या पुण्यादि की चाह या लोभ ही मूल में बसता है। आशा है संपादकीय का उद्देश्य सफल हो। पर **शोधादर्श** के पाठक तो सर्वत्र नहीं हैं। **शोध ादर्श** फलता-फूलता रहे, यही भावना है।

- श्री मनोहर मारवडकर, नागपुर

शोधादर्श में गुरुगुण कीर्तन के अन्तर्गत जैन साहित्यकारों का विस्तृत परिचय देकर, तथा पूर्व प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण आलेख पुनः प्रकाशित करके आप आज के अध्येताओं को लाभान्वित कर रहे हैं। डॉ. शशि कान्त का लेख 'बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रभावक जैन संत' में आधुनिक युग के जैन संतों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, थोड़ा अधिक विस्तृत परिचय दिया जाता तो और उपयोगी होता। प्रायः प्राचीन जैन कृतियों के रचयिता अपने संबंध में मौन ही रहे हैं, जिससे उनके कर्तृत्व और काल-निर्धारण में बहुत कठिनाई होती है, ऐसा ही **पंचाध्यायी** के साथ हुआ है।

शोधादर्श में आपके स्वतंत्र और मौलिक चिंतन की झांकी पग-पग पर प्रकट होती है। संपादकीय बहुत ही सटीक व विचारोत्तेजक है। श्रावकों की मनःस्थिति का सही आकलन किया गया है। प्रत्येक समाज में समय के साथ-साथ कुछ विसंगतियां आ जाती हैं, जिनका समय रहते निराकरण होना चाहिये। हमारे मुनि महाराजों की चर्या बहुत ही कठिन और कठोर है, इसमें संदेह नहीं। जैन धर्म वीतरागता का धर्म है, दिगम्बरत्व अपरिग्रह की चरम स्थिति है। दिगम्बर व्रत को धारण करने वाले हमारे पूजनीय साधु-संतों के लिये किसी भी प्रकार का प्रदर्शन या आडम्बर शोभनीय नहीं है। जनमानस तो धर्मभीरू होता है, सांसारिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए चमत्कार को नमस्कार करना उसकी दुर्बल मानसिकता है, किन्तु साधु संत तो हमारे गुरुवर हैं, पथ प्रदर्शक हैं, उनसे विनीत निवेदन है कि उन्हें श्रावकों को इस प्रकार अपव्यय करने से तथा अनुचित दिशा में जाने से रोकना चाहिये।

पत्रिका के अन्य सभी लेख ज्ञानवर्धक और रुचिकर हैं, जिनके लिये संपादक तथा लेखकगण साधुवाद के पात्र हैं।

- डॉ. उषा जैन, बिजनौर

शोधादर्श-६२ के सभी लेख अच्छे लगे। डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया का गीत अच्छा है। डॉ महावीर प्रसाद जैन तथा डॉ. सारस्वत की काव्य रचनायें भी आध्यात्मिकता के रंग में सराबोर हैं। जैन-धर्म के तीर्थों, संतों तथा विद्वानों की समुचित जानकरी परिश्रमपूर्वक दी गयी है। **- डॉ. परमानन्द जड़िया, लखनऊ**

शोधादर्श का ६२वां अंक प्राप्त हआ। सम्पादकीय 'सन्त समागम' को कई बार पढ़ा। इसे पढ़कर विद्वानों, साधुओं व श्रावकों को सीख लेनी चाहिए। डॉ. शशि कान्त का लेख 'बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रभावक जैन संत' भी पठनीय व ज्ञानवर्द्धक लगा। सम्पादक **दिशाबोध** डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा का लेख 'नैतिकता विहीन धार्मिकता-एक खतरनाक स्थिति' पढ़कर मेरे मन में दिगम्बर जैन साधुओं के प्रति श्रद्धा समाप्त हो गई। भारत में नब्बे प्रतिशत दिगम्बर जैन साधु २८ मूलगुणों का पालन नहीं करते हैं, तन्त्र-मन्त्र करते हैं, चरित्रहीन हैं, परिग्रही हैं। क्या ऐसे मुनि पूजनीय हैं? कदापि नहीं। हमारे जैन विद्वान ऐसे मुनियों के संदर्भ में कुछ भी बोलने को तैयार नहीं हैं, बल्कि उनका पक्ष लेते हैं। हमारे विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिए, नहीं तो आने वाले समय में ऐसे मुनि जैन धर्म व समाज की छवि धूमिल कर देंगे। इस प्रकार के लेख प्रकाशित करने हेतु **शोधादर्श** बधाई का पात्र है।

- वैद्य राजेश चन्द्र जैन, अलीगंज (एटा)

शोधादर्श-६२ ठीक तरह से पढ़ा। श्री रमा कान्त जैन द्वारा दिया गया डॉ. हीरालाल जैन के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का ब्यौरा बहुत ही अच्छा लगा। डॉ. शशि कान्त का लेख जैन धर्म के सर्व सम्प्रदाय के लिए बोधप्रद है। जैन आगमों की वाचना केवल संकलनात्मक है। डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा का सामाजिक लेख स्पष्टता के कारण अच्छा लगा।

-सुश्री ए. एस. बोथरा, पुणे

शोधादर्श नियमित रूप से यथासमय प्राप्त हो रहा है। अपने नाम के अनुरूप **शोधादर्श** जैन समाज में फैली विसंगतियों को खोज-खोजकर अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है जो अपने आप में काफी श्रमसाध्य एवं समयसाध्य कार्य है। यह समाज का आइना है जो हमें अपनी वास्तविक स्थिति का दिग्दर्शन करा रहा है।

डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा का आलेख 'नैतिकता विहीन धार्मिकता - एक खतरनाक स्थिति' आंखें खोल देने वाला है। श्री पद्मावती माता को २००७ फुट की चुनरी चढ़ाने का समाचार यह दर्शाता है कि अब हम अपने धर्म से भी अधिक महत्व 'लिम्का बुक और गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड्स' में समाचार दर्ज करवाने को दे रहे हैं, जो हमारी बदलती मानसिकता का परिचायक है।

सोनागिर जी की एक सत्यकथा हमारे तीर्थक्षेत्रों की व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगा रही है। हमारे क्षेत्र पदाधिकारियों की अनदेखी से न जाने कितने आगन्तुक तीर्थ यात्रियों

को किन-किन प्रकार की परेशानियों से गुजरना पड़ रहा है, यह सोचकर ही मानसिक वेदना होती है। तीर्थक्षेत्र के पदाधिकारियों को सम्बंधित रेलवे अधिकरियों के साथ तालमेल बैठाकर इसका कुछ स्थायी समाधन निकालना चाहिए। अन्यथा इस प्रकार की घटनाओं के दृष्टिगत तीर्थ पर उतरने वाले यात्रियों की संख्या निरन्तर घटती जाएगी। कुछ दिनों पूर्व एक यात्री ने जानकारी दी थी कि सोनागिर जी में बिल्कुल तीर्थ के इर्दगिर्द लगभग चौबीसों घंटे अजैन भजनों की कैसेट अवाधित रूप से बजाई जाती है जिससे दर्शनार्थियों के परिणामों में हलचल/चंचलता पैदा हो जाती है। क्या कभी जैनेतर तीर्थक्षेत्रों में ऐसा संभव है ? क्या हमारे अ. भा. तीर्थ क्षेत्र कमेटी के राष्ट्रीय अध्यक्ष एवं अखिल भारतीय स्तर के पदाधिकारीगण मात्र मुनिराजों अथवा समाज की स्टेजों पर पदासीन होकर अपनी फोटो खिंचवाकर तथा कुछ लुभावने भाषण देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं? आखिर समाज की इन ज्वलन्त समस्याओं को हल करने का उत्तरदायित्व किसका है, यह एक ज्वलन्त विचारणीय प्रश्न है, जिसका उत्तर नेतृत्व से अपेक्षित है।

- श्री प्रकाशचन्द जैन, नई दिल्ली

शोधादर्श-६२ के गुणकीर्तन में डॉ. हीरालाल जी जैन साहित्य-मनीषी का प्रेरक परिचय ज्ञात हुआ। उनकी श्रम साधना से नवीन पीढ़ी प्रेरणा लेगी। वे जैन वांगमय के उद्‌भट विद्वान् थे। 'पंचायध्यायी का कर्तृत्व' समाज की अंतरधारा का परिचायक है। पहले गृहस्थ विद्वान प्रामाणिक माने जाते थे, मुनि-मार्ग के विस्तार के साथ गृहस्थ-विद्वानों को प्रश्नचिन्हित किया जाने लगा था। सम्पादकीय 'सन्त समागम' विद्यमान स्थिति का दिग्दर्शक और सुधार की मंगल भावनाओं से ओतप्रोत है। दुखद यह है कि स्वच्छंदता के दौर में किसी को सद् विचार हेतु समय ही नहीं। फिर भी, उदारमनाओं को अपना अवदान देते रहना चाहिये।

डॉ. शशि कांत जी का 'बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रभावक जैन संत' उदार दृष्टिकोण का आदर्श है। इस सूची में ब्र. श्री सीतलप्रसाद जी, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जी का नाम भी सम्मिलित हो जाता तो अच्छा होता। श्री जमनालाल जैन का आलेख 'सर्वोदय तीर्थ के नाम पर' विचारोत्तेजक है। लेखक की यह टिप्पणी "सर्वोदय के हिमायती ही आज स्वार्थोदयी बन गये हैं" दिशाबोधक है।

डॉ. चीरंजीलाल बगड़ा का आलेख 'नैतिकता विहीन धार्मिकता' विचारोत्तेजक एवं खतरे की घंटी जैसा है। नैतिकता के मापदण्ड बहुत बदल गये हैं। जीवन में पारदर्शिता का लोप हो गया है।

श्रीमती कुसुम सोगानी जी का आलेख व्रत-त्यौहार का विवरण देता है। वीरशासन जयंती के एक दिन पहले एक और त्यौहार आता है। वह है गुरु पूर्णिमा। आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन इन्द्रभूमि गौतम ने जिन दीक्षा ली थी और उन्हें मनःपर्याय ज्ञान की उत्पत्ति हुई थी। श्री मनोहर मारवडकर की परिचर्चा "भावना का व्यवहार-निश्चय नय स्वरूप" ज्ञानवर्द्धक है। पत्रिका के अन्य आलेख, कविताएं, स्थायी स्तंभ स्तरीय व ज्ञानवर्द्धक हैं।

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति का वार्षिक प्रतिवेदन पढ़ा। संस्था की समग्र-सूक्ष्म गतिविधियों का पारदर्शी प्रामाणिक दस्तावेज है।

- डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल, अमलाई

कल्याण-मन्दिरमुदारमवद्य-भेदि
भीताभय-प्रदमनिन्दितमङ्घ्रि-पद्मम्।
संसार-सागर-निमज्जदशेष - जन्तु-
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य।।१।।
यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः
स्तोत्रं सुविस्तृत-मतिर्न विभुर्विधातुम्।
तीर्थेश्वरस्य कमठ-स्मय-धूमकेतो-
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ।।२।।
सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशः कथमधीश भवन्त्यधीशाः।
धृष्टोऽपि कौशिक-शिशुर्यदि वा दिवान्धो
रूपं प्ररूपयति किं किल धर्मरश्मेः ।।३।।

- कुमुदचन्द्र कृत कल्याणमन्दिर स्तोत्र से

विज्ञप्ति–

अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा मान्यता प्राप्त 'पत्राचार प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' एवं 'पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' में प्रवेश योजना निम्न प्रकार है :

प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम अवधि : १ जनवरी २००८ से ३१ दिसम्बर २००८

अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम अवधि : १ जनवरी २००८ से ३१ दिसम्बर २००८

प्राकृत एवं अपभ्रंश सीखने का इच्छुक कोई भी व्यक्ति इसमें प्रवेश ले सकता है। आवेदन पत्र व नियमावली निदेशक, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर–३०२००४, कार्यालय से निःशुल्क प्राप्त की जा सकती है।

शुल्क सहित आवेदन पत्र अकादमी कार्यालय में पहुंचने की अंतिम तिथि १५ दिसम्बर २००८ होगी।

जैन विद्या संस्थान

जैन विद्या संस्थान द्वारा संचालित पत्राचार जैनधर्म दर्शन एवं संस्कृति सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम–२००८– सत्र अवधि–१ जनवरी, २००८ से ३१ दिसम्बर, २००८ तक, में प्रवेशार्थी निर्धारित आवेदन पत्र व नियमावली निःशुल्क निदेशक, जैन विद्या संस्थान, दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर–३०२००४, कार्यालय से प्राप्त कर सकते हैं। शुल्क सहित आवेदन पत्र कार्यालय में पहुंचने की अंतिम तिथि १५ दिसम्बर, २००७ होगी।

आवश्यक सूचना

इस वर्ष का वार्षिक शुल्क ५० रु. (पचास रुपये), यदि अभी नहीं भेजा हो, तो कपया मनीआर्डर द्वारा 'महामंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र., ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ–२२६ ००४', को शीघ्र ही भेजने का अनुग्रह करें। चेक लखनऊ के ही स्वीकार होंगे। एक प्रति का मूल्य २० रु. (बीस रुपये) है। मनीआर्डर भेजने पर उसकी सूचना एक पोस्ट कार्ड पर भी अपने पूरे नाम पते के साथ अवश्य भेजें।

शोधादर्श चातुर्मासिक पत्रिका है और सामान्यतया इसके अंक मार्च, जुलाई व नवम्बर में प्रकाशित होते हैं।

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक एवं अप्रकाशित लेख आमंत्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिये और उसमें यथावश्यक सन्दर्भ/स्रोत सूचित किये जाने चाहिये। यथासंभव लेख ३–४ टंकित पृष्ठ से अधिक न हो। *लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें। अप्रकाशित लेख–रचना लौटाना कठिन होगा।*

शोधादर्श में समीक्षार्थ पुस्तकों तथा पत्र–पत्रिकाओं की दो *प्रतियां* भेजी जायें।

शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु *शोधादर्श* का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक/पत्रिका सम्पादक को ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ–२२६ ००४, के पते पर भेजे जायें।

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भो की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

सभी विवाद लखनऊ में स्थित सक्षम न्यायालयों /न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार के अधीन होंगे।

सुधी पाठक कृपया अपनी सम्मति और सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे। कृपया पत्रिका पहुँचने की सूचना भी देवें।

– सम्पादक